श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला ५२

काथबोधः

श्रीमहाप्रभुलालगोस्वामि-कृत-
भाषानुवाद-सहितः साज्जनीकृतव्याख्यासमलङ्कृतः

226.9
दत्ता | का

चौखम्भा संस्कृत संस्थान
पोस्ट बाक्स नं० ११३९
वाराणसी–२२१००१ (भारत)

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला
५२

काथबोधः

साजनीकृतटीकोपेतः

(दत्तात्रेयसम्प्रदायाऽनुगतः)

काव्यतीर्थ-सांख्य-योगशास्त्राचार्य्याद्युपाह्वेन
श्रीमता मुकुन्दलालशर्मणा संशोधितः

सम्पादकोऽनुवादको विस्तृतभूमिकादिलेखकः
राष्ट्रपतिपुरस्कृतः
डॉ॰ महाप्रभुलालगोस्वामी

चौखम्भा संस्कृत संस्थान
भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा विक्रेता
पो॰ आ॰ चौखम्भा, पोस्ट बाक्स नं॰ ११३९
जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, बाराणसी
मुद्रक : श्रीगोकुल मुद्रणालय, बाराणसी
संस्करण : द्वितीय (प्रथम बार हिन्दी टीका सहित), वि० सं० २०४४
मूल्य : रु० ३०-००

226·9
दत्ता/का

© चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
इस ग्रन्थ का परिष्कृत तथा परिवर्धित मूलपाठ एवं टीका, परिशिष्ट आदि के सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन हैं।

फोन : ६५८८९

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्भा विश्वभारती
पोस्ट बाक्स नं० १०८४
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ५४७६६

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
52

KĀTHABODHA

(On Dattātreya System of Thought)

with

The Commentary of Sājanī

Edited By

PANDIT MUKUNDALAL ŚĀSTRĪ

Kāvyatīrtha, Sāṅkhya-Yoga Śāstrāchārya.

Re-edited with Hindi Translation and Preface etc.

By

Dr. MAHĀPRABHULĀL GOSVĀMĪ

(Awarded by President)

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 1139
Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane
VARANASI (INDIA)

© *Chaukhambha Sanskrit Sansthan, Varanasi*

Phone : 65889

Second with the Hindi Commentary Edition ; 1987

Also cen be had of

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 1084

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI-221001

Phone : 54766

Printers :

SRIGOKUL MUDRANALAYA

Gopal Mandir Lane,

Varanasi-221001

अवतारणा

दत्तात्रेय विष्णु का अवतार था। यह अत्रि ऋषि एवम् अनसूया का पुत्र था। अत्रि ऋषि के दत्त, सोम और दुर्वासस् ये तीन पुत्र थे। इनमें दत्त विष्णु का, सोम ब्रह्मा का, एवं दुर्वासस् रुद्र का अवतार था। आज का ब्रह्मा-विष्णु महेशात्मक त्रिमुख दत्त की उपासना प्रचलित है, इनके तीन मुख छहस्त चित्रित किये जाते हैं। दत्त की मूर्ति के पीछे एक गाय एवं आगे चार कुत्ते दिखाई देते हैं। किन्तु, इस मूर्ति का समर्थन पुराणों के आधार पर नहीं किया जा सकता है। इस मूर्ति का निर्देश "गुरुचरित्र" के निर्माता सरस्वती गङ्गाधर ने किया है। दत्तात्रेय को परब्रह्म स्वरूप मानकर तीन शिर छहस्त तथा धेनु एवं कुत्ते के समवेत रूप में वर्णन किया गया है। औदुम्बर वृक्ष के समीप इनका स्थान दिखाया जाता है। माघ ने अपने अपने ग्रन्थ "शिशुपालवध में इनको विष्णु के अवतार के रूप में निर्दिष्ट किया है। वेदों की यज्ञक्रिया के साथ पुनः उज्जीवन, चारों वर्णों की पुनः संघटना, क्षमा को अवधारणा, सन्न्यासपद्धति का प्रचार कार्तवीर्याजुन के द्वारा पृथ्वीका म्लेच्छों से उद्धार-ये प्रधान अवतार के कार्य हैं।

दत्तात्रेय ने अत्रि से जिज्ञासा की "मुझे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति कैसे होगी" ? अत्रि ने गोदावरी नदी पर जाकर महेश्वर की आराधना का निर्देश दिया था। इनको गोदावरी नदी के ब्रह्मतीर्थनामक स्थान पर आत्मज्ञान प्राप्त हुआ था। इस ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति को धर्म को दर्शन हुआ था। इनके प्रधान शिष्य अलर्क, प्रह्लाद, यदु एवं सहस्रार्जुन थे।

दत्त का आश्रम—

गिरि नगर में दत्त का आश्रम = विष्णुपद था। पश्चिम घाट में मल्लीकी ग्राम माहूर में दत्त का आश्रम था, इसी स्थान पर परशुराम ने जमदग्निका अग्नि संस्कार किया था और रेणुका सती हुई थी, अतः वहाँ मातृ तीर्थ का निर्माण हुआ है।

आचार्य श्रीहर्ष अवधूतों के आदि गुरु श्री दत्तात्रेय को "अद्वय-मयेऽध्वनि[1] सरन्तम्" (अद्वैतमार्ग में गमनशील कह कर श्रद्धापूर्वक नमन किया है। महाकवि माघ ने "अविनाशिविग्रह[2]" अर्थात् सिद्ध-देहशील स्वीकार किया है। वैदिक धर्म की रक्षा के लिए लुप्तप्राय श्रुतियों के उद्धार के लिए अत्रिमुनि के पुत्र के रूप में कर्दम ऋषि की कन्या पतिव्रताग्रणी अनसूया के गर्भ से भगवान् का अवतार होता है। अहिर्बुध्न्यसंहिता, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, ब्रह्मपुराण, कृष्णयामल-तन्त्र आदि में दत्तात्रेय को विशिष्ट भगवान् के अवतार के रूप में स्वीकार किया है। उपनिषद्, महाभारत, भागवत आदि ग्रन्थों में भी चर्चा मिलती है।

दत्तात्रेय ने अध्यात्म विद्या, योगसिद्धि, निष्कामबुद्धि, त्रिपुर-सुन्दरी की साधना का विशिष्ट उपदेश दिया है। प्रह्लाद को वैराग्य और सन्तोष, यदु की अवधूत चर्चा एवं दीक्षाग्रहण, परशुराम को ललिता की साधना का निर्देश त्रिपुरा-रहस्य में विस्तार से वर्णित है। यह दीक्षा 'स्पर्शदीक्षा के नाम से विख्यात है। डॉ. आर. डी. राणाडे. ने दत्तात्रेय के सम्बन्ध में लिखा है कि—"Avadhūta Dattātreya presented himself to Rājā yadu and hugged him to his breast with great joy. In concequence of this embrace yadu received first hand Knowledge of himself". (Mystieism in Maharashtra)

कार्तवीर्याजुन ने जिसकी अनेक तान्त्रिक साधनाएँ प्रसिद्ध हैं, गर्गमुनि के उपदेश से दत्तात्रेय के आश्रम में जाकर वरदान और धर्मोपदेश प्राप्त किया था। उसका ऐश्वर्य और समृद्धियाँ इन्हीं की देन है। दत्तात्रेय ने गौतमी वन में तयश्चर्या, एवं योग साधना से शिव को प्रसन्न कर ज्ञान और मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त किया। यह तपोभूमि "आत्मतीर्थ" नाम से प्रसिद्ध है। विकार के सभी साधनों से सम्पन्न भी निर्विकार जीवन यापन मार्कण्डेय पुराण की कथा से अवगत होता है। जावालोपनिषद् में परमहंसाश्रम में तुरीयातीत अवधूत का सन्निवेश कर दत्तात्रेय, दुर्वासा, संवर्त्त आदि की परम्परा क्रम में चन्द्राचार्य तक को वर्णित किया जा सकता है। अवधूत शब्द

---

१. नैषधीय चरित २१।६४।२ १४।७९

२. भागवत ११।६।११

का विवरण देते हुए लिखा गया है कि अ, व, धू, त इन चार अक्षरों का अर्थ निम्नलिखित है। अ का अर्थ अक्षरत्व = Impershability अर्थात् अविनाशी पद की प्राप्ति से सम्पन्न, व का अर्थ वरेण्य = Aime of perfection अर्थात् सर्वश्रेष्ठ पद की प्राप्ति के कारण पूजनीय, धू का अर्थ धूत, संसार, बन्धन = Shattering of the trammels अर्थात् सांसारिक अविद्या मूलक रागद्वेष मोह से परे ज्ञानाग्नि से दग्ध कर्मवीर्य सम्पन्न, त का अर्थ 'तत्वमसि' आदि का लक्ष्यार्थभूत=Realization of trouth conveyed by 'Jhat thou art', अर्थात् जिसका लक्ष्य तत् त्वम् आदि है। इस प्रकार सदा अपने स्वरूप में अवस्थित महात्मा अवधूत शब्द से कहा जाता है। गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह आदि में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। पराशर माधव के अनुसार अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्ति' (पराशर माधव २) उन्मत्त न होते हुए भी उन्मत्त के समान आचरण करने वाला। भगवान् दत्तात्रेय का जन्म स्वयम्भू-मन्वन्तर से पूर्व सांसारिक जीवों के दुःख और ताप के विनाश के लिए स्वेच्छा से आविर्भूत है और यह एक ही शरीर में प्रलयान्त वर्तमान रहेंगे। आचार्य चन्द्र की ज्ञान परम्परा में त्रिदेव के उपासक उदासीन की परम्परा में तपस्वी राजर्षि योगी साधुवेला की परम्परा विद्यमान है, ये अनुन्मत्त उन्मत्त के समान आचार शील योगर्द्धि सम्पन्न राजर्षि के रूप में हैं। स्मृति ही इनके दर्शन का साधन है।

जमदग्नि पुत्र परशुराम की त्रिपुरसुन्दरी की अर्चा का आगे विस्तार से वर्णन दिया जा रहा है जो दत्तात्रेय की परम्परा है।

महेन्द्र पर्वत की भौगोलिक स्थिति बम्बई के चिपलूण नाम के ग्राम से विश्वामित्री नदी पारकर करीब डेढ दो मील पहाड़ पर चढने पर परशुराम के नाम से प्रसिद्ध है, जहाँ परशुराम की मूर्ति है, कुछ ही दूर पर ·गुरुदत्त का मन्दिर है, पादुका के पास पानी का झरना भी है।

दत्तात्रेय का स्थान सह्याद्रि के शिखर पर है वही इनका स्थान माना गया है–रेणुकापुर या मातापुर मध्यप्रदेश के यवमाल जिले के अर्णी गाँव से १६ मील की दूरी पर है, यहाँ अत्रि आश्रम है, जो आज माहुर गढ के नाम से प्रसिद्ध है, इसे ही दत्तात्रेय का अविर्भाव भूमि माना गया है माहुरगढ़ से पूर्व रेणुका शिखर है, यहाँ एलमा का

मन्दिर है, अन्तिम शिखर अनसूया है, माहुर में दत्तात्रेय की पादुकाएँ हैं। काशी में भी मणिकर्णिका घाट पर दत्तात्रेय की पादुकाएँ है। देश के सभी स्थानों में इनकी पूजा होती है।

मार्कण्डेय पुराण के अनुसार दत्तात्रेय की कथा :—

काशिराज अपनी समस्त सेनाओं को साथ लेकर अलर्क के राज्य पर आक्रमण करने आ पहुंचा। तदनन्तर उसने अलर्क के अन्तरङ्ग भृत्यों और सामन्तों से मेल-मिलाप बढ़ाया और उनके साथ अलर्क पर आक्रमण कर उसे अपना वशवर्ती बना लिया। अलर्क के राष्ट्र को चारों ओर से घेर कर उसने उसके सामन्तों को दबाया और दुर्गपालों तथा वनपालों को भी अपने वश में कर लिया। साथ ही उसने अलर्क के सहयोगी कुछ राजाओं को धन-दान द्वारा, कुछ को भेदनीति से और कुछ को साम-प्रयोग से अपने अधीन किया जिससे वे सब उसके वशवद बन गये।

राजा अलर्क शत्रुसैन्य से सर्वतः आक्रान्त होने पर बलहीन हो गया जिससे उसका राजकोष नष्ट हो गया तथा उसकी राजधानी शत्रुओं से चारों ओर से घिर गयी। इस प्रकार शत्रु द्वारा पीड़ित होने पर अलर्क का राजकोष दिन पर दिन क्षीण होने लगा जिससे वह बड़ा दुःखी हो गया और उसके मन में व्याकुलता बढ़ गयी।

जब उसकी पीडा पराकाष्ठा पर पहुँच गयी, तब उसे उस अंगूठी की स्मृति हुई जिसके विषय में उसकी माता मदालसा ने उससे कहा था। तदनन्तर, स्नानादि से शुद्ध-पवित्र होकर उसने उस अंगूठी से शासन-पट्ट बाहर निकाल कर ब्राह्मणों द्वारा उसे पढ़वाया और स्वयं भी उसकी स्पष्ट लिखावट देखी। माता मदालसा ने उसमें जो कुछ भी खिखा था उसे पढ़वाने के बाद वह सब की दृष्टि में आनन्द से रोमाञ्चित दीखने लगा और उसकी आँखें प्रसन्नता से खिली दिखायी देने लगीं। उस शासन में यह लिखा था—'अपनी समस्त शक्ति लगाकर कामादि के संग का परित्याग करना चाहिये और यदि संग अथवा आसक्ति का परित्याग न किया जा सके तो उसे सज्जनों के प्रति करना चाहिये क्योंकि सत्सङ्ग स्वयं एक महौषधि है। कामशक्ति का तो सर्वथा परित्याग करना चाहिये और यदि किसी कारणवश ऐसा न हो सके तो मोक्षासक्ति करनी चाहिये, क्योंकि मोक्ष के प्रति आसक्ति ही काम की आसक्ति के रोग की

परमौषधि है। उसने बहुत बार माता का वह अनुशासन पढ़ा और मनुष्य का कल्याण कैसे हो इसे सोचते हुये यह निश्चय किया कि मुमुक्षा से ही मनुष्य का कल्याण संभव है। तदनन्तर राजा अलर्क ने, सत्संग के ही संबन्ध में सोचते-सोचते, अत्यन्त आर्त होकर, महानुभाव महर्षि दत्तात्रेय की शरण ली।

नितान्त निष्पाप, सर्वसंग-रहित महात्मा दत्तात्रेय के पास पहुँचकर उसने उन्हें प्रणाम किया और उनकी अर्चा-पूजा करके उनसे यथोचित निवेदन किया कि--भगवन् ! आप मुझ पर कृपा करें। आप अपनी शरण में आये लोगों के एकमात्र रक्षक हैं। मैं बड़ा दुःखी हूं और कामनाओं से अभिभूत होने के कारण बड़ा आर्त हूं। कृपा कर मेरा दुःख दूर करें। महात्मा दत्तात्रेय ने कहा--'राजन् ! आज ही मैं तुम्हारा दुःख दूर करता हूं। सच-सच बताओ कि क्यों तुम्हें दुःख होता है !

महर्षि दत्तात्रेय के ऐसा कहने पर राजा अलर्क ने शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक—तीनों प्रकार के दुखों के आश्रय और उससे सर्वथा विलक्षण स्वात्मतत्त्व पर विचार किया।

राजा अलर्क ने, जैसा कि वह बड़ा उदाराशय था और धीर-गम्भीर स्वभाव का था, बहुत देर तक बार-बार स्वयं अपने आत्म-तत्त्व पर सोचता रहा और सोचने के बाद हंसकर महर्षि दत्तात्रेय से बोला--'भगवन् ! मैं जानता हूँ कि मैं न तो पृथिवी हूं, न जल हूं, न अग्नि हूं, न वायु हूं और न आकाश हूं किन्तु इन पाँच भूतों के बने शरीर का आश्रय लिये हूं, जिसके कारण मुझे सुख की अभिलाषा हुआ करती है और सुख तथा दुःख ऐसे हैं जो किसी पाञ्चभौतिक शरीर में कम और किसी पाञ्चभौतिक शरीर में अधिक मात्रा में प्रतीत होते हैं। यदि ये सुख-दुःख इस जीवन में राजा के रूप में रहने वाले मुझ में हैं तो मेरे अन्य जीवनों में भी, जिनका सद्भाव अथवा अस्तित्व प्रवाह रूप से नित्य है और जिनमें सुख-दुःख की न्यून अथवा अधिक मात्राओं का रहना अवश्यंभावी है, अवश्य ही रहे होंगे। इस प्रकार आत्मदर्शी के लिये शरीरधारी होने पर भी शरीर में अहंता-ममता की बुद्धि के परित्याग में तथा प्रातिस्विक स्वप्रकाश तुर्यावस्थावस्थित आत्मस्वरूप में कोई भेद नहीं है। इसी प्रकार पाञ्चभौतिक शरीर में अवस्थित शरीरिक सुख और दुःख

और मन में अवस्थित मानसिक सुख और दुःख में कोई भेद नहीं प्रतीत होता। मैं मन नहीं हूं इसलिये मुझ में न तो शारीरिक दुःख है और न मानसिक दुःख है। मैं अहङ्कार नहीं हूं, न मन हूं और न बुद्धि हूं। इसलिये विविध कारणों से उत्पन्न दुःख, जो अन्तःकरण के दुःख हैं, मेरे दुःख नहीं अपितु मुझसे सर्वथा भिन्न अन्तःकरण के दुःख हैं।

मैं शरीर नहीं हूं और न मैं मन हूं क्योंकि मेरा अस्तित्व शरीर और मन-दोनों से भिन्न और विलक्षण है। इसलिये सुख या दुःख वे शरीर के हों अथवा मन के हों, मुझे क्या लेना देना।

मेरे बड़े भाई यदि मेरा राज्य को अपनाना चाहते हैं और मेरे इस शरीर को, अपने अधीनस्थ रखना चाहते हैं तो कर लें, मेरा कुछ नहीं बिगड़ता क्योंकि राज्य और शरीर--दोनों भूतपञ्चक की समष्टि से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जो कुछ भी मेरे बड़े भाई अथवा मुझमें प्रवृत्ति-निवृत्ति की चेष्टायें हैं वे उनकी और मेरी नहीं अपितु सत्त्व-रजस्-तमोरूप गुणत्रय की हैं क्योंकि शरीरी मेरे भाई और शरीर मैं--दोनों वस्तुतः शरीर से, जो नश्वर है, सर्वथा भिन्न हैं।

जिस पुरुष के हाथ-पैर आदि समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्ग उसके नहीं और न मांस-हड्डी और सिराओं से ही जिसका सम्बन्ध है, उसका हाथी-घोड़े-रथ-राज्यकोष आदि से तो किञ्चिन्मात्र भी कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता है।

इसलिये, न मेरा कोई शत्रु है और न मुझे कोई दुःख अथवा सुख है। मुझे राजधानी और राज्यकोष से भी कुछ लेना-देना नहीं और न हाथी-घोड़े आदि की चतुरङ्गिणी सेना से ही कोई प्रयोजन है। यही बात वस्तुतः मेरे बड़े भाई के विषय में भी लागू होती है और मेरे बड़े भाई ही क्यों सबके विषय में, जिसमें मैं भी सम्मिलित हूं, लागू होती है।

जैसे आकाश एक है किन्तु मटका, घड़ा और कमण्डल से सम्बद्ध होने पर अनेक प्रकार का प्रतीत होता है वैसे ही मेरे बड़े भाई सुबाहु, काशिराज और मैं आत्म-दृष्टि से एक हैं किन्तु शरीर-भेद से भिन्न-भिन्न लगते हैं।

तदनन्तर राजा अलर्क ने ब्रह्मर्षि महात्मा दत्तात्रेय को साष्टाङ्ग प्रणाम किया और विनयावनत होकर उनसे आगे निवेदन किया कि 'भगवन्! सम्यग् दृष्टि से सब कुछ देखते मुझे किसी दुःख का अनुभव नहीं होता। सदा दुःख के समुद्र में डूबने-उतराने वाले लोग तो वे हैं जो सम्यग्दर्शी नहीं हैं। सांसारिक जीवन में मनुष्य जिन-जिन विषयों के प्रति ममत्व बुद्धि रखता है उन-उन विषयों से उसकी ममतासक्त बुद्धि दुःख ही ग्रहण करती है और जिसे वह अन्त में मनुष्य को दे देती है। उदाहरण के लिये, अपने पालतू मुर्गे के बिल्ली द्वारा खा लिये जाने पर मनुष्य को जो दुःख होता है वह बिल्ली द्वारा गौरैया अथवा चूहा के खा लिये जाने पर नहीं होता है, क्योंकि उसके प्रति उसे कोई ममता नहीं होती। इसलिये मैं न दुःखी हूं और न सुखी हूं, क्योंकि मैं प्रकृति के इन प्रपञ्चों से परे हूँ। सुख अथवा दुःख का अनुभव तो गुणत्रय के परस्पर संघर्ष में एक दूसरे की जो विजय-पराजय होती है उसका परिणाम है।

ब्रह्मर्षि दत्तात्रेय ने कहा--

राजन्! तुमने जैसी बात कही है वस्तुस्थिति वस्तुतः वैसी ही है क्योंकि ममता दुःख का और निर्ममत्व परमसुख का कारण है।

मैंने तुमसे प्रारम्भ में जो प्रश्न किया था उसी से तुम्हें यह परमज्ञान मिला है जिसने तुम्हारी ममत्व बुद्धि को उसी प्रकार उड़ा दिया है जिस प्रकार हवा सेमर की रुई को उड़ा देती है।

देखो--कर्तृत्वाभिमान एक महावृक्ष है जो अहंभाव के अंकुर से उत्पन्न होता है; ममत्व के रूप में जो शनैः-शनैः महास्कन्ध बन जाता है; घर-द्वार, खेती-बाड़ी जिसकी बड़ी-बड़ी ऊँची शाखायें हैं; पुत्र-पत्नी, इष्ट-मित्र प्रभृति जिसके बड़े-बड़े पत्ते हैं; जो अनेकानेक जन्मों की अवधि में बढ़ता आया है; पुण्य-पाप जिसके सबसे पहले खिलने वाले फूल हैं और सुख-दुःख जिसके बड़े-बड़े फल समान हैं। यह अहंभाव का महावृक्ष मोक्ष-मार्ग तक फैला हुआ है' क्योंकि दुष्ट-संग के जल-सेक से यह समृद्ध होता रहता है। विविध जागतिक कार्य-व्यापार भौंरों के रूप में इस पर मंड़राया करते हैं। सांसारिक जीवन की यात्रा के जो पथिक इस कर्तृत्वाभिमान रूपी महावृक्ष की छाया का आश्रय लिया करते हैं वे भ्रान्त ज्ञान और भ्रान्त सुख के

वशवर्ती रहा करते हैं। ऐसे लोगों को वह सुख कभी नहीं मिलता जिसे ऐकान्तिक और आत्यन्तिक सुख कहा गया है।

किन्तु जो लोग सत्सङ्ग के पत्थर पर घिस कर तेज किये ज्ञान के कुल्हाड़े से इस ममत्वाभिमान रूपी महावृक्ष को काट डालते हैं वे ही मोक्ष-मार्ग पर आगे निकल जाते हैं और अन्त में शीतल, अकण्टक, स्वच्छ ब्रह्मरूपी बन में पहुंच जाते हैं जहाँ सभी अन्तःकरण वृत्तियों से उनका पिण्ड छूट जाता है और वे आत्मज्ञान-सम्पन्न होकर आत्यन्तिक सुख-शान्ति प्राप्त कर लेते हैं।

राजन् ! न तो तुम पञ्चभूतमय स्थूल शरीर हो और न मैं पञ्चभूतमय स्थूल शरीर हूं। हम दोनों न तो पञ्चतन्मात्रारूप हैं और न अन्तःकरण रूप हैं। राजन् ! तुम्हीं बताओ कि तब हम दोनों में से किसे तुम प्रकृत्यात्मक समझते हो। हम दोनों तो प्रकृति से परे पुरुष हैं; जिसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं। हम दोनों के शरीर त्रिगुणात्मक होने के संघात रूप हैं। गूलर और मच्छर, इषीका और मूंज, तथा पानी और मछली भले ही बाह्य, दृष्टि से देखने में एक से लगे, किन्तु तत्त्वदृष्टि से देखने में भिन्न हैं। वस्तुतः क्षेत्र (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष अथवा आत्मा) परस्पर भिन्न हैं।

अलर्क ने कहा--

भगवन् ! आपकी कृपा से मुझे वह परमज्ञान, वह विवेक प्राप्त हो गया है जिसमें प्रकृति और पुरुष का पार्थक्य सिद्ध हो जाता है।

किन्तु, मेरे चित्त में, जो सांसारिक विषयों से आक्रान्त है, आत्मज्ञान से संबद्ध स्थिरता नहीं हो पा रही है जिससे मुझे पता नहीं चल पाता कि प्रकृति के बन्धनों से मेरा छुटकारा होगा या नहीं। मैं सदा इस सोच-विचार में पड़ा रहता हूँ कि कैसे क्या करूँ जिससे पुनः जन्म न लेना पड़े; कैसे क्या करूँ जिसमें त्रैगुण्य-बन्धन से मेरी मुक्ति हो जाय और कैसे क्या करूँ जिसमें मैं शाश्वत परात्पर परब्रह्म रूप हो जाऊँ। भगवन् ! आप ब्रह्मज्ञ हैं इसलिये आपके समक्ष विनयावनत होकर ज्ञान-याचना करने वाले मुझे आप योग का सम्यग् ज्ञान दें। आपके सत्संग से ही मेरा कल्याण होगा क्योंकि मनुष्य का एकमात्र उपकारक सत्सङ्ग ही है।

ब्रह्मर्षि दत्तात्रेय ने कहा--

ज्ञानपूर्वक अज्ञान से वियोग योगी का मोक्ष है जिसका अभिप्राय ब्रह्मैक्यभाव होता है जिसमें सत्त्वादि गुणत्रय से पार्थक्य स्वतः सिद्ध है।

राजन् ! मोक्ष योग से प्राप्त होता है और योग सम्यग्ज्ञान का उद्भव दुःख के कारण होता है और दुःख ममत्वासक्त मन वालों का धर्म है। इसलिये उस मनुष्य के लिये, जिसे मोक्ष की इच्छा हो, संग अथवा आसक्ति का प्रयत्नपूर्वक परित्याग आवश्यक है, क्योंकि जब संग अथवा आसक्ति का प्रयत्नपूर्वक परित्याग आवश्यक है, क्योंकि जब संग अथवा आसक्ति नहीं होती तब ममत्व बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। ममत्व बुद्धि का अभाव अन्ततः सुख का उत्पादक होता है; वैराग्य के उदय होने पर सांसारिक जीवन में निःसारता, क्षणिकता आदि दोष दिखायी देने लगते हैं, वैराग्य की उत्पत्ति का कारण ज्ञान है और ज्ञान के उद्भव-उल्लास का कारण वैराग्य है। ज्ञानी अथवा विरक्त के लिये घर-द्वार वह है जहाँ वह रह जाय; खाना-पीना वह है जिससे वह प्राणधारण कर ले और ज्ञान वह है जिससे उसे मुक्ति मिले। इसके अतिरिक्त तो सब कुछ अज्ञान ही अज्ञान है।

पुण्य और पाप के फलोपभोगों के समाप्त करने से, नित्यकर्मों के सम्पादन से, निष्काम कर्मों के अनुष्ठान से, पूर्वार्जित कर्मों के क्षय से और आरब्ध कर्मों के प्रति कर्तृत्वाभिमान के सञ्चय न करने से शरीर का बन्धन सदा के लिये टूट जाता है।

राजन् ! मैंने योग की पूर्वपीठिका के रूप में तुमसे यह सब कहा। अब योग के सम्बन्ध में सुनो जिसके सिद्ध हो जाने पर योगी शाश्वत सच्चिद्घनानन्द ब्रह्म को ही प्राप्त करता है और ब्रह्माद्वयभाव के अतिरिक्त अन्य किसी भाव से कोई नाता नहीं रखता।

योगी के लिये यह अत्यावश्यक है कि वह आत्मा द्वारा आत्मा पर विजय पाये। वैसे आत्मविजय बड़ा दुष्कर होता है, किन्तु उसके लिये प्रयत्नशील तो होना ही चाहिये। अब आत्मविजय का जो उपाय है उसके विषय में मैं जो कह रहा हूँ वह सुनो।

सर्वप्रथम प्राणायाम के द्वारा शरीर-धातु के समस्त दोषों को जलाकर राख करना चाहिये; धारणा अथवा मनःस्थैर्यपूर्वक आत्म-चिन्तन के द्वारा मानसिक कालुष्य का पूर्णतया प्रक्षालन करना

चाहिये; प्रत्याहार अथवा विषयों से इन्द्रियनिग्रह के द्वारा विषयसुख की कामनाओं का नाश करना चाहिये और ध्यान के द्वारा शक्तिशाली रजोगुण और तमोगुण को परास्त करना चाहिये। जैसे आग की भट्ठी में जलाने से पर्वतीय खनिज धातुओं के दोष जलकर नष्ट हो जाते हैं वैसे ही प्राणायाम से इन्द्रियों के समस्त दोष जलकर नष्ट हो जाते हैं।

जो योगवेत्ता है उसे सर्वप्रथम प्राणायाम की साधना करनी चाहिये। प्राणायाम का अभिप्राय प्राणवायु और अपानवायु की गति पर रोक लगाना है। योगाचार्य लोग तीन प्रकार के प्राणायाम बताते हैं—१ला लघु प्राणायाम, २रा मध्य प्राणायाम और तीसरा उसके सम्बन्ध में तुम्हें बता रहा हूं, सुनो! लघुप्राणायाम १२ मात्राओं का, मध्यम प्राणायाम २४ मात्राओं का और उत्तरीय अथवा उत्तम प्राणायाम ३६ मात्राओं का होता है। आँख की पलकों के एक बार खुलने और बंद होने में जो समय लगता है अथवा लघु अक्षर के उच्चारण में जो समय लगता है वही 'मात्रा' है जिसे प्राणायाम की गणना के लिये माना गया है। इस प्रकार लघु-प्राणायाम १२ मात्रा का होता है। इस प्राणायाम की साधना से शरीर के स्वेद-प्रस्वेद पर विजय पायी जाती है; मध्यम प्राणायाम की साधना से शरीर के कम्पन पर विजय पायी जाती है और उत्तम प्राणायाम की साधना से विषाद पर विजय पायी जाती है। इस प्रकार त्रिविध प्राणायाम-साधन से क्रमशः शारीरिक दोषों को नष्ट किया जाता है। जैसे हाथी, शेर, बाघ आदि वन्य जीव मनुष्य की सेवा द्वारा अपने स्वभाव में उग्रता छोड़कर मृदुता धारण करते हैं; वैसे ही प्राण भी निरन्तर सेवा द्वारा योगी के वश में हो जाते हैं। जैसे हाथीवान मतवाले हाथी को अपना वशवर्ती बनाकर अपनी इच्छा के अनुसार इधर-उधर चलाया करता है; वैसे ही योगी भी सिद्ध किये अपने प्राण को अपनी इच्छा से ही जिधर चाहता है उधर ले जाता है। जैसे साधा हुआ शेर हिरणों को मारता है मनुष्यों को नहीं, उसी प्रकार साधा हुआ प्राण कालुष्य का नाश करता है, शरीर का नहीं। इस लिये योगी जब योगयुक्त हो तो सदा प्राणायाम में तत्पर रहे। अब प्राणायाम के अवस्थाचतुष्टय के विषय में सुनें जिसकी साधना का फल मोक्ष है।

राजन् ! प्राणायाम की चार अवस्थायें ये हैं--१ ध्वस्ति, २ प्राप्ति ३ संवित् और ४ प्रसाद । अब मैं क्रमशः इनके स्वरूप के विषय में जो कह रहा हूँ उसे सुने ।

प्राणायाम की जिन अवस्था में पुण्य-पापात्मक कर्मों के फलों का नाश हो जाता है और चित्त समस्त कालुष्य से रहित होकर निर्मल हो जाता है उसे 'ध्वस्ति' कहते हैं । 'प्राप्ति' वह अवस्था है जिसमें पहुंच कर योगी लोभ-मोहात्मक ऐहिक तथा पारलौकिक कामनाओं को स्वयं निरुद्ध कर स्व-स्वरूप में अबस्थित होता है । प्राप्ति की यह अवस्था क्षणिक नहीं, सार्वकालिक होती है । प्राणायाम की 'संवित्' अवस्था में योगी अपनी समृद्ध ज्ञान-ज्योति से चन्द्र-सूर्य-तारक राशि तथा ग्रहमण्डल के समान प्रभावशाली हो जाता है और भूत-भविष्य तथा दूर परोक्ष के पदार्थों को जान कर दैवी-सम्पदा प्राप्त कर लेता है । 'प्रसाद' वह अवस्था है जिसमें पहुंच जाने पर योगी का मन निर्मल हो जाता है, उसके प्राण-अपानादि वायु-पञ्चक शुद्ध हो जाते हैं, उसकी इन्द्रियां सर्वथा शक्ति सम्पन्न हो जाती हैं, जिससे इन्द्रियों के विषतभूत पदार्थ हस्तामलकवत् दिखायी पड़ने लगते हैं ।

राजन् ! प्राणायाम का लक्षण सुने और यह भी सुने कि योगयुक्त होने के लिये किस प्रकार के आसनों का विधान है ।

पूर्णपद्मासन, अर्द्धपद्मासन तथा स्वस्तिकासन प्रभृति अनेक आसन हैं, जिन आसानों में अवस्थित होकर योगी हृदय में ओङ्कार का ध्यान कर योगाभ्यास कर सकता है । इन सभी आसानों में योगी के लिये एक समान स्थिर होना और अपनी प्रकृति के अनुरूप आसन-बन्ध करना आवश्यक है । इन आसन-बन्धों में दोनों पैर सिकोड़ने पड़ते हैं, मुंह बंद रखना पड़ता है; दोनों जांघे सिकोड़ कर आगे रखनी पड़ती है, दोनों एड़ियों पर इस प्रकार एकाग्रचित्त होकर बैठना पड़ता है जिसमें लिङ्ग तथा अण्डकोश का उनसे स्पर्श न हो; मस्तक कुछ उठाकर स्थिर बैठना पड़ता है; नीचे के दाँतों को ऊपर के दातों से दबाना नहीं पड़ता; नासिका की नोक पर दृष्टि गड़ानी पड़ती है; इधर-उधर आँखें घुमाकर देखना नहीं पड़ता; रजोगुण से तमोगुण की वृत्तियों को और सत्त्वगुण से रजोगुण की वृत्तियों को दबाये रखना पड़ता है तथा निर्मल सत्त्व में चित्त को अबस्थित रखना पड़ता है । इस प्रक्रिया से योगवेत्ता के लिये योग का विधान किया

गया है। योगी को अपनी प्रकृति के अनुकूल आसन लगाकर बैठना चाहिये; इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को निगृहीत करना चाहिये, प्राणायाम करना चाहिये, मन को एकाग्र रखना चाहिये और इन सब क्रियाओं को करते हुए प्रत्याहार का अनुष्ठान प्रारम्भ करना चाहिये। जैसे कछुआ अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग सिकोड़ कर बैठ जाता है वैसे ही योगी भी अपनी समस्त कामनाओं का निग्रहकर स्व-स्वरूपावस्थ हो जाता है। इस प्रकार वह सदा आत्मरति तथा एकाग्रचित्त होकर अपने में आत्मस्वरूप का दर्शन करता है। ऐसा योगाभ्यासी बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धि कर कण्ठ से नाभि तक शरीर में वायु का स्तम्भ करता है।

इस प्रकार प्रत्याहार की क्रिया प्रारम्भ करने के पहले बुद्धिमान् योगी के लिये कण्ठ से नाभि तक शरीर में वायु-निरोध अत्यावश्यक है। बारह बार इस प्रकार प्राणायाम की क्रिया धारणा कहलाती है। तत्त्वदर्शी योगी योगाभ्यास में दो धारणायें मानते हैं। इस प्रकार; योगयुक्त, एकाग्रचित्त योगी के सभी दोष नष्ट हो जाते हैं और वह सर्वथा स्वस्थ हो जाता है, जिससे उसे परब्रह्म और प्राकृत गुणत्रय और उससे संभूत प्रपञ्च की जो अनुभूति होती है वह परस्पर विलक्षण होती है। ऐसा योगी पञ्चभूतों के परमाणुओं का और निष्कलुष आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है। इसलिये योगी के लिये यह आवश्यक है कि वह नियमित भोजन ग्रहण करे तथा प्राणायाम-परायण रहे और एक के बाद एक योग की उपर्युक्त अवस्थाओं पर धीरे-धीरे पहुंचे; क्योंकि योगी को उपर्युक्त चार अवस्थाएँ योगीरूपी राजभवन की चार मंजिले हैं, जिन पर शनैः शनैः आरोहण मे ही कल्याण है। यदि उपर्युक्त योगभूमिकाओं पर क्रमशः उचित ढंग से आरोहण न किया जाय तो भिन्न-भिन्न प्रकार के दोष, रोग तथा मनोमोह उत्पन्न होते और बढ़ते हैं। इसलिये जब तक पहली योगभूमि पर ठीक से आरूढ़ न हो जाय तब तक दूसरी योगभूमि पर आरोहण करना ठीक नहीं है। 'प्राणायाम' को प्राणायाम इसलिये कहते हैं, क्योंकि इसमें क्रमशः प्राणनिरोध की क्रिया सम्पन्न की जाती है।

'धारणा' को धारणा कहने का तात्पर्य यह है कि इसके द्वारा योगीजन मन को पकड़ कर रखते हैं। संयतचित्त योगी शब्दादि

विषयों के प्रति स्वभावतः प्रवृत्तिशील इन्द्रियों को भी अपने वश में करते हैं।

शब्दादि विषयों में प्रवृत्त इन्द्रियों को योगाभ्यास के बल से शब्दादि विषयों से दूर हटाने का नाम 'प्रत्याहार' है। योगियों ने जो महर्षि हो चुके हैं, 'प्रत्याहार' प्रभृति की सिद्धि के लिये कतिपय उपाय भी बताये हैं।

इन उपायों के प्रयोग से योगी को व्याधिप्रभृति दोषों के कष्ट नहीं भागने पड़ते। जैसे जल पीने की इच्छा रखने वाले लोग यन्त्र अथवा कमलनाल प्रभृति साधनों से शनैः-शनैः जल पीते हैं उसी प्रकार योगी को भी शनैः-शनैः वायु का पान करना चाहिये, जिससे उसे अत्यधिक परिश्रम न हो। सर्वप्रथम नाभि में, उसके बाद हृदय में, उसके बाद वक्षःस्थल में, उसके बाद गले में, उसके बाद मुख में, उसके बाद नासिकाग्र में, उसके बाद नेत्रों में, उसके बाद भौंहों में, उसके बाद मूर्धा में और अन्त में इन सबसे विलक्षण परात्पर तत्त्व में धारणा की साधना की जाती है।

इन दशविध धारणाओं में जो योगी पारङ्गत हो जाता है वह ब्रह्मात्मैक्यभाव को प्राप्त कर लेता है। ब्रह्ममय होने पर उसे न तो अहङ्कार होता है, न क्षुधा होती है, न श्रान्ति होती है और न उसका चित्त व्याकुल होता है। ऐसी अवस्था में पहुँच जाने पर योगी को चाहिये कि वह सिद्धि-प्राप्ति के लिये बड़े श्रद्धा-विश्वास से योगाभ्यास करता रहे। ध्यानावस्थित योगी को ऐसे समय में, जब शीत का आधिक्य हो अथवा उष्णता का आधिक्य हो, योगयुक्त अवस्थित होने का प्रयास नहीं करना चाहिये। साथ ही साथ, ऐसे स्थान पर जहाँ कोई द्वन्द्व-युद्ध छिड़ा हो, बहुत तेज हवा बह रही हो, हो-हल्ला मच रहा हो, आग लगी हो और तेज बहते पानी की जोर की आवाज आ रही हो, योगाभ्यास नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार जीर्ण-शीर्ण गौशाला में, चौराहे पर, सूखी पत्तियों की ढेर वाले स्थान पर, नदी-तट पर, श्मशान में, साँप-बिच्छू वाले स्थान पर, जहाँ भय लगे ऐसे कुएँ के तीर पर, चैत्य स्थान पर और दीमक वाली जगह पर योग-तत्त्ववेत्ता के लिये योगाभ्यास करना वर्जित है। यदि, किसी कारण-वश, मन में सात्त्विकता का उद्रेक न हो रहा हो तो देश-काल की अनुकूलता पर भी ध्यान देना व्यर्थ है।

योगाभ्यास के समय किसी अमाङ्गलिक पदार्थ का दर्शन भी अनुचित है। इसलिये इसका वर्जन करना चाहिये। इन उपर्युक्त स्थानों को छोड़कर जो, मनमाने, कहीं भी योगाभ्यास करने लगता है वह मूढ़ है और उसके योग में विघ्न के उपस्थापक कतिपय दोष आ जाते हैं जिनके विषय में मैं तुमसे बता रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो। बधिरता, स्तब्धता, स्मृतिभ्रंश, गूंगापन, अंधापन और ज्वर—ये सब वे दोष हैं जो योगाभ्यास के उपयुक्त स्थान तथा समय से अनभिज्ञ योगाभ्यासी के योग में विघ्न उपस्थित करते हैं। यदि प्रमादवश किसी योगी में ये दोष प्रकट हो जाय तब उनके नाश के लिये योगी को चिकित्सा करनी चाहिये जिसके सम्बन्ध में मैं तुम्हें अब कह रहा हूँ। चिकनी, बहुत गर्म यवागू (जौ की दलिया) का भोजन करना चाहिये और सब ओर से ध्यान हटाकर उसी यवागू पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिये। उदावर्त तथा उदर-विकार में तथा वात गुल्म की शान्ति के लिये दलिया का भोजन करे और वायुग्रन्थि को दूर करने के लिये जहाँ कष्ट हो वहाँ प्राणायाम से वायु संचालन करे। इसी प्रकार शरीर में कंपकंपी होने पर मन में ध्यान कर महाशैल पर धारणा जमावे। यदि वाक्शक्ति नष्ट हो जाय तो वागिन्द्रिय पर, यदि श्रवणशक्ति नष्ट हो जाय तो श्रवणेन्द्रिय पर और यदि अत्यधिक प्यास लगे तो जिह्वा पर रखे आम्रफल पर ध्यान केन्द्रित करे। कहने का तात्पर्य यह है कि शरीर के जिस-जिस अङ्ग में रोग हो जाय उसके उपचार में उपकारक पदार्थों पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिये। उष्णता के आधिक्य में शीतल पदार्थ पर और शैत्य के आधिक्य में उष्ण पदार्थ पर धारणा अथवा ध्यान की एकाग्रता का अभ्यास करे। मस्तक पर कील रख कर उस पर लकड़ी रखे और उस लकड़ी पर दूसरी लकड़ी से चोट करे।

मस्तक पर रखी कील पर लकड़ी रखकर लकड़ी से चोट करने पर योगी की स्मृतिभ्रंश की व्याधि दूर हो जाती है और स्मृति शक्ति लौट आती है। पृथिवी और आकाश तथा वायु और अग्नि जो व्यापक पदार्थ हैं उन पर भी धारणा जमाने का अभ्यास करना चाहिये।

पृथिवी-आकाश एवं अग्नि-वायु पर धारणा का अभ्यास करना

अमानुषिक सत्त्व (प्रेतादि) से उत्पन्न कष्टों की चिकित्सा है। यदि योगी के शरीर में कोई अमानुष सत्त्व प्रविष्ट हो जाय तब योगी वायु तथा अग्नि पर धारणा के अभ्यास से उसे शरीर में ही जलाकर नष्ट कर सकता है। संक्षेप में बात यह है कि योगवेत्ता को सब प्रकार से अपनी रक्षा करना चाहिये।

योगी को अपनी शरीर-रक्षा इसलिये करनी चाहिये क्योंकि शरीर ही धर्म-अर्थ काम तथा मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति का एकमात्र साधन है। यदि योगी अपनी योगसिद्धि की बातें लोगों को बताने लगे अथवा अपनी योगसिद्धि पर आश्चर्य प्रकाशन करने लगे तो उसका योगविषयक विज्ञान नष्ट हो जाता है। इस लिये योगसिद्धि से सम्बद्ध सभी बातें गोप्य रखनी चाहिये।

योगाभ्यास में प्रवृत्ति के जो प्रथम चिह्न हैं वे ये हैं--मन की शान्ति, नीरोगता, हृदय की कोमलता, शरीर की सुगन्धि, मल-मूत्र की अल्पता, देह की कान्ति, चित्त की प्रसन्नता और स्वर की सौम्यता।

योगसिद्धि का उत्तम लक्षण यह है कि योगाभ्यास करने वाले के अनुरागी लोग परोक्ष में उसका गुणकीर्तन करते हैं और जीव-जन्तु भी उससे भयभीत नहीं होते।

अत्यन्त उग्र शैत्य और औष्ण्य आदि से जिस योगी को कोई कष्ट न हो और न वह किसी से भयभीत होता हो तो समझना चाहिये कि योगसिद्धि उसके समक्ष हाथ जोड़े खड़ी है।

महामुनि दत्तात्रेय ने अलर्क से कहा--

राजन् ! जब योगी आत्मदर्शन कर लेता है तब उसके योग-मार्ग में जो-जो उपद्रव संभव हैं उन्हें मैं संक्षेप में तुम्हें बता रहा हूँ। मेरी बात सुनो और समझो।

योगी भी, गृहस्थ की भाँति, फल की इच्छा से सभी काम्य कर्मों के प्रति आकृष्ट होता है। सर्वसाधारण की जो भी अभिवांछित वस्तु हो सकती है उसकी प्राप्ति की भी कामना उसके हृदय में उत्पन्न हो जाती है जैसे कि सर्वसाधारण की भाँति उसे भी स्त्री-संभोग, दान देने के विविध फल, नाना प्रकार की विद्याओं में निपुणता, अमानुषिक शक्ति, स्वर्णरजतादि से भिन्न विविध प्रकार के

खनिज द्रव्यों के संग्रह, धनसम्पत्ति तथा स्वर्गसुख इत्यादि की अभिलाषाएँ होने लगती हैं। उसके मन में देवपद और देवेन्द्रपद की प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न हो जाती है; दीर्घजीवी होने के लिये उसमें भी विविध प्रकार के रसायनों के सेवन और उनके निर्माण की लालसा जन्म ले लेती है; वायुमण्डल में विहार के चमत्कार-प्रदर्शन के प्रति वह भी लालायित हो जाता है; गृहस्थोचित यज्ञ-यागों के अनुष्ठान में वह भी लगा रहना चाहता है; पानी और आग के साथ चमत्कारपूर्ण लीलाओं में उसका भी मन रमने लगता है; नित्य, नैमित्तिक तथा नित्यनैमित्तिक श्राद्धकर्म में विविध प्रकार के दानों के द्वारा मिलने वाले फलों के प्रति वह भी आसक्त होने लगता है और एक शब्द में, गृहस्थाश्रमी के सफल जीवन के नियमों के पालन के प्रति उसमें भी उत्सुकता दिखायी देने लगती है। इसी भाँति विविध प्रकार के उपवास, इष्टापूर्त तथा देवार्चन आदि के विषय में वह भी गृहस्थ के समान आसक्तिभाव रखने लगता है। इस प्रकार उपर्युक्त गृहस्थोचित अथवा साधारण मानवोचित कर्त्तव्य-कर्म के ये उपसर्ग अथवा उपद्रव योगी के हृदय से कामना और आसक्ति दूर नहीं होने देते। इसलिये योगी के लिये यह अत्यावश्यक है कि यदि उसका चित्त इस प्रकार का हो रहा हो तो वह प्रयत्नपूर्वक सभी कामनाओं से अपने चित्त को दूर हटा दे।

इन सभी उपद्रवों से अपने चित्त को मुक्त करने के लिये योगी को अपना चित्त सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म में लगा देना चाहिये। ऐसा भी होता है कि इन उपद्रवों पर विजय पा लेने पर भी योगी को कुछ दूसरे प्रकार के उपद्रव जैसे कि सात्त्विक, राजसिक और तामसिक उपद्रव झेलने पड़ते हैं। ये उपद्रव पाँच प्रकार के हैं जिन्हें प्रातिभ, श्रावण, दैव, भ्रम तथा आवर्त कहा जाता है। ये उपद्रव योगी के लिये बड़े कष्टकारक होते हैं और इनसे उसके योगाभ्यास में विघ्न पड़ जाता है। इन उपद्रवों में 'प्रातिभ' उपद्रव वह है जिसके उठ खड़े होने पर योगी वेदों के अर्थ, काव्यों के तात्पर्य, शास्त्रों के अभिप्राय, समस्त विद्याएं तथा समस्त कलाकौशल इन सबका साक्षात्कार कर लेता है। 'श्रावण' उपद्रव का अभिप्राय समस्त शब्दों के अर्थों का ज्ञान तथा सहस्रों योजन दूरवर्ती शब्दों का श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण है। 'देव' उपद्रव वह कहा जाता है जिसके होने पर

योगी देव के समान बनकर आठों दिशाओं ही क्यों सर्वत्र समस्त पदार्थों के दर्शन की शक्ति से सम्पन्न हो जाता है। योगवेत्ता लोग उस उपद्रव को 'भ्रम' नामक उपद्रव कहते हैं जिसके उपस्थित हो जाने पर योगी का चित्त मदोन्मत्त मनुष्य के चित्त को भाँति कहीं भी स्थिर नहीं हो पाता जिससे उसके समस्त योगाभ्यास की क्रिया नष्ट हो जाती है। पाँचवाँ उपसर्ग अथवा उपद्रव वह है जिसे 'आवर्त' कहते हैं क्योंकि इसके कारण समुद्र अथवा नदी-नद के जल के भँवर की भाँति योगी का ज्ञान विक्षुब्ध हो जाता है तथा निरन्तर चक्कर काटता रहता है और अन्ततः उसके चित्त को ही नष्ट कर देता है। वस्तुतः ये सब उपद्रव ऐसे हैं जो देवयोनि में भी पहुँचे योगियों के योगों को नाश में मिला देते हैं।

इन महाभयंकर उपद्रवों का परिणाम यह होता है कि योगी लोग जन्म-जरामरण के चक्कर में निरन्तर पड़े रहा करते हैं। इसलिए, योगी के लिये यह अत्यावश्यक है कि वह अपने आपको अपने निर्मल निरुपद्रव चित्त रूपी कम्बल से ढके रहे और अपने चित्त को ब्रह्मोन्मुख बना कर ब्रह्मचिन्तन में लगा रहे। योगी जब योगाभ्यास में लगे तब उसे जितेन्द्रिय होना चाहिये और अल्पमात्रा में भोजन करना चाहिये।

पृथिवी आदि की सूक्ष्म जो सात धारणाएँ हैं उन्हें योगी को अपने मस्तक में धारण करना चाहिये। पृथिवी की धारणा को इस प्रकार धारण करने पर योगी के लिये पृथिवी सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो जाती है। वह अपने आपको ही पृथिवी मानने लगता है किन्तु पृथिवी के गन्ध-गुण का परित्याग कर देता है। इसी प्रकार, वह अपने आपको जल मानने लगता है किन्तु जल के रस रूपी गुण का परित्याग कर देता है। योगी अपने आपको अग्निरूप में देखने लगता है किन्तु उसके रूप-गुण का परित्याग कर देता है। वायुरूप में भी वह अपने आपको मानने लगता है किन्तु वायु के स्पर्श-गुण का ग्रहण नहीं करता। इसी भाँति वह जब आकाश की धारणा को धारण करता है तब उसके लिये आकाश सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो जाता है किन्तु आकाश के शब्द गुण से उसका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। पञ्च महाभूतों की धारणा की भाँति जब वह मानसी धारणा में मग्न हो जाता है तब उसका मन इतना अधिक सूक्ष्म हो जाता है कि वह अपने सूक्ष्म

मन से समस्त भूतजात के मन में प्रविष्ट हो जाता है। बौद्धिक धारणा के धारण करने पर योगी की बुद्धि इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि वह उस बुद्धि से समस्त प्राणिओं की बुद्धिओं को जान जाता है और अन्ततः उनका परित्याग कर देता है। अन्ततोगत्वा, जब योग-तत्त्ववेत्ता योगी इन सात धारणाओं में अभ्यस्त होकर सातों सूक्ष्मातिसूक्ष्म पृथिवी आदि पञ्चभूत, मन तथा बुद्धि का सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर इन सातों का परित्याग कर देता है तब, महाराज अलर्क ! वह इस संसार के पार पहुँच जाता है और कभी-भी संसार में नहीं लौटता।

इस प्रकार योगी जब संयतचित्त हो जाता है तब इन सात धारणाओं की सूक्ष्मता का दर्शन करते-करते और उससे प्राप्त होने वाली सिद्धियों का त्याग करते-करते अन्तिम सिद्धि अर्थात् ब्रह्म-भावना की सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

राजन् ! किन्तु एक बात आवश्य है कि जब योगी पञ्चभूतों में से जिस-जिसमें अनुरक्त हो जाता है उस-उसमें उसकी आसक्ति दृढ़-मूल हो जाती है और अन्ततः वह विनाश में मिल जाता है।

इसलिये योगी के लिये यह आवश्यक है कि वह परस्पर संसक्त सातों धारणा-पक्षों के सूक्ष्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके उनका पूर्णतः परित्याग कर दे। ऐसा कर लेने पर वह शरीरधारी होते हुये भी परमपद की प्राप्ति कर लेता है।

भूतपञ्चक, मन तथा बुद्धि-रूप सातों धारणाओं के सूक्ष्मस्वरूप पर जब योगी ध्यान एकाग्र कर लेता है तब उसे इन सातों का तत्त्वज्ञान हो जाता है जिसके कारण उसके हृदय में इन सातों के प्रति विरक्ति का भाव भर जाता है। किन्तु यदि इन सातों के गन्ध प्रभृति गुणों में उसकी आसक्ति दृढ़मूल हो जाती है तब वह विनष्ट हो जाता है और राजन् ! इसका परिणाम यह होता है कि वह ब्रह्म-स्वरूप से सर्वथा भिन्न मनुष्य रूप पाकर निरन्तर संसार-चक्र में घूमता रहता है। राजन् ! जब योगी इन सातों धारणाओं का अति-क्रमण कर जाता है तव सूक्ष्मातिसूक्ष्म उन धारणापदों में, जिसमें उसकी इच्छा हो, उसमें, उसका लय हो जाता है। वह अपनी इच्छा के अनुसार देवों, दानवों, गन्धर्वों, सर्पों, राक्षसों आदि के शरीरों में

भी अपना लय कर देता है किन्तु उनमें से किसी में भी उसकी आसक्ति नहीं रहती।

राजन् ! इतना ही नहीं, अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व तथा कामावसायित्व की जो आठ सिद्धियाँ हैं जो वस्तुतः ईश्वरीय विभूतियाँ अथवा विशेषताएँ हैं और निर्वाण की सूचक सिद्धियाँ हैं उन्हें भी योगी पा लेता है।

इन आठ सिद्धियों में 'अणिमा' का अभिप्राय सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप-ग्रहण की शक्ति है, 'लघिमा' का अभिप्राय शीघ्रातिशीघ्र गति-गामिता है; 'महिमा' का अभिप्राय ब्रह्माण्ड से भी बढ़कर महत्त्व की प्राप्ति अथवा सर्वजनपूजनीयता है। 'प्राप्ति' वह सिद्धि है जिसे प्राप्त कर लेने पर योगी के लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं रह जाता। 'प्राकाम्य' का अभिप्राय योगी की इच्छा की महाव्याप्ति है जिसे उसकी अप्रतिहत इच्छा भी कहते हैं। 'ईशित्व' वह सिद्धि है जिसे योगी की ईश्वररूपता कहते हैं क्योंकि इससे वह भूतभौतिक पदार्थों की सृष्टि और संहार में भी समर्थ हो जाता है। 'वशित्व' सिद्धि का तात्पर्य योगी का भूत-भौतिक पदार्थों में स्वातन्त्र्य है जो कि उसकी सातवीं विशेषता है। योगी की आठवीं सिद्धि 'कामावसायिता' है जिसका अर्थ उसके संकल्प की सत्यता है। इस प्रकार, राजन् ! मैंने तुम्हें योगी के अष्टविध ऐश्वर्यकारणों का निरूपण कर दिया।

योगी के ये अष्टविध ऐश्वर्य उसको मुक्ति के सूचक तथा आत्यन्तिक आत्म-निर्वृति अथवा ब्रह्मैक्यभाव प्राप्ति के भी सूचक है। इनके कारण न तो योगी का जन्म होता है, न उसमें अवस्थादि की वृद्धि होती है और न उसकी मृत्यु होती है। योगी में किसी प्रकार की क्षीणता नहीं आती और न किसी प्रकार का परिवर्तन होता है। भूतभौतिक पदार्थों से उसका छेदन-क्लेदन-दाहन-शोषण आदि भी संभव नहीं। शब्दादि विषयों के सुख उसके चित्त को आकर्षित नहीं कर पाते। उसके लिए मानों शब्दादि विषयों का कोई अस्तित्व ही नहीं होता, जिससे उसके लिए उनके उपभोग की सम्भावना भी समाप्त हो जाती है। वस्तुतः विषयों और वैषयिक सुखों से योगी का कोई सम्बन्ध नहीं होता। जैसे एक स्वर्णखण्ड, जिसके दोष अग्नि-संताप से दग्ध हो चुके हैं, दूसरे विशुद्ध स्वर्णखण्ड से मिलकर एकरूप, एकरस हो जाता है वैसे ही योग की अग्नि से जिस योगी

के दोष निर्दग्ध हो चुके हैं वह योगी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के साथ एकरूप-एकरस हो जाता है ।

जैसे अग्नि में प्रक्षिप्त अग्नि अग्निमय हो जाती है, अग्नि के नाम से जानी जाती है और अग्नि से भिन्न नहीं मानी जाती, वैसे ही योगी भी, जिसका समस्त कालुष्य, समस्त पाप-पुण्य योगाग्नि में जल गया है, जब परब्रह्म में लीन हो जाता है, तब परब्रह्म से एक-रूप-एकरस हो जाता है। दूसरा दृष्टान्त भी देखो राजन् ! जैसे जल, जल में निक्षिप्त कर देने पर, जल के साथ एकरूप हो जाता है, वैसे ही योगी की आत्मा परमात्मा में मिल जाने पर परमात्मरूप हो जाती है ।

राजा अलर्क ने महर्षि दत्तात्रे से कहा :--

भगवन् ! अब मैं आपके श्रीमुख से योगियों की चर्या अथवा उनके आचार व्यवहार के विषय में सुनना चाहता हूँ और यह जानना चाहता हूँ कि ब्रह्मभावना के मार्ग पर चलते हुए योगी किस प्रकार किसी दुःख का अनुभव नहीं करता ।

महर्षि दत्तात्रेय बोले :--

राजन् ! लोक में सर्वसाधारण के लिये संमान और अपमान, जो क्रमशः सुख अथवा दुःख रूपी उद्वेगों अथवा भाव संवेगों के कारण हैं, उन्हें ही योगी उनके उलटे अर्थों में लेता है अर्थात् सुख-दायक संमान से अपमान और दुःखदायक अपमान से संमान समझता है और तभी वे उसकी योगसिद्धि के सम्पादक होते हैं ।

लोक में जिन्हें मान और अपमान माना जाता है उन्हें ही योग-वेत्ता लोग विष और अमृत कहते हैं। इन दोनों में योगी के लिये अपमान तो अमृत है और मान हलाहल विष ।

योगी के लिये यह आवश्यक है कि वह भली-भाँति देखकर भूमि पर पैर रखे, भली-भाँति कपड़े से छानकर पानी पीये, भली-भाँति जानकर कि अमुक बात सत्य है, कोई बात बोले और भली-भाँति बुद्धि से परख कर जो सोच-समझ रहा है उसे सोचे-समझे ।

योगी यदि योगविद्या को जानता है तो उसे अपनी योगसिद्धि

क प्रदर्शनार्थ अतिथि सत्कार के आयोजनों, नित्यनैमित्तिकादि श्राद्धोत्सवों, यज्ञयाग के अनुष्ठानों, देवयात्रा के महोत्सवों और जन-समूहों में कहीं-भी नहीं जाना चाहिये ।

योगवेत्ता योगी का ऐसे घरों में भिक्षाटन करना चाहिये जहाँ बहुत लोग न रहते हों, जहाँ पाकशाला में न धुंआँ निकलता हो और न आग जलती हो और जहाँ परिवार के सब लोग भोजन से निवृत्त हो चुके हों किन्तु ऐसा भी नहीं होना चाहिये कि वह इन्हीं तीन विशेषताओं वाले किसी के घर में निरन्तर भिक्षा के लिये पहुँच जाया करे ।

योग-साधना में लगे योगी को अपने किसो आचार-व्यवहार से सदाचरण को कलङ्कित नहीं करना चाहिये, जिसके कारण लोगों की अवमानना और तिरस्कार का पात्र बनना पड़े ।

योगो को भिक्षाचरण के लिये गृहस्थों के आवासों अथवा यायावरों अर्थात् परिव्राजकों के निवासों पर जाना चाहिये । किन्तु परिव्राजकों की अपेक्षा गृहस्थों के आवासों पर भिक्षाचर्या अधिक उत्तम है । वस्तुतः योगी की आजीविका यही है ।

गृहस्थाश्रम में रहने वाले लोगों में भो शीलवान्, श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, श्रोत्रिय और उदाराशय ब्राह्मण गृहस्थों के घरों में योगी सदा भिक्षाचरण करने जा सकता है ।

इसके अतिरिक्त योगी यदि अन्यत्र भिक्षाचरण करे तो उसे ऐसे घरों में जाना चाहिये जहाँ रहने वाले दुष्टाचारी और पतित न हों । निम्न वर्ण के लोगों के घरों में भिक्षाचर्या योगी की बड़ी निन्दनीय आजीविका समझनी चाहिये ।

योगी की भिक्षा के लिये यवागू अथवा चावल की खीर, तक्र अथवा मठ्ठा, दूध, जौ की बनी दलिया, फल, मूल, प्रियंगु के दाने, अन्न क कण, पिण्याक अथवा पीठा तथा सत्तू--ये खाद्य पदार्थ सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि योगियों के लिये ये ही भोज्य पदार्थ शुभ हैं और उनकी योगसिद्धि में उपकारक हैं । इन भोज्य पदार्थों से योगी श्रद्धाभक्ति के साथ तथा समाहित चित्त होकर अपना आहार करे ।

इन भैक्ष्य-पदार्थों के भोजन के पहले योगी को बिना बोले-चाले, एकाग्रचित्त होकर प्राणायामपूर्वक '॰ प्राणाय स्वाहा' बोलकर एक बार जल का प्राशन करना चाहिये, जो कि प्राणाग्नि में उसकी पहली आहुति है। दूसरी आहुति 'ॐ अपानाय स्वाहा' तीसरी आहुति 'ॐ समानाय स्वाहा' चौथी आहुति 'ॐ उदानाय स्वाहा' और पाँचवीं आहुति 'ॐ व्यानाय स्वाहा' बोलकर उसे प्राणाग्नि में देनी चाहिये। इन आहुतियों के अनुष्ठान के बाद योगी अपनी इच्छा के अनुसार भिक्षान्न का भोजन करे और भोजन कर चुकने पर एक बार और जल का प्राशन करे तथा आचमन करके अपने हृदय का स्पर्श करे।

योगियों के ये पाँच व्रत हैं--१. अस्तेय, २. ब्रह्मचर्य, ३. त्याग, ४. अलोभ तथा अन्तिम ५. अहिंसा।

इसी प्रकार योगियों के लिये पाँच नियम हैं--१. अक्रोध, २. गुरुसेवा, ३. शौच अथवा शुद्धि, ४. मिताहार और ५. नित्य वेदाध्ययन।

योगी को योगसिद्धि के लिये उपकारी सभी ज्ञानों के सारभूत ब्रह्मज्ञान की उपासना करनी चाहिये। ज्ञान के प्रकार तो अनेक हैं किन्तु वे योगसिद्धि के विघ्न हैं, साधक नहीं।

'यह भी जानना चाहिये', 'वह भी जानना चाहिये'--इस प्रकार की ज्ञान की प्यास लिये जो योगसाधना में प्रवृत्त होता है वह सहस्रों कल्पों में भी, योगद्वारा ज्ञेय तत्त्व अर्थात् ब्रह्म को नहीं जान सकता। योगी के लिये यह आवश्यक है कि वह विषयासक्ति से विरत होकर, क्रोध पर विजय पाकर, स्वल्पाहार का नियम-पालन करके, इन्द्रियों को वश में रखते तथा बुद्धि से इन्द्रियरूपी देहपुरी के द्वारों को बन्द करके अपना मन ब्रह्म-चिन्तन में लीन कर दे। योगी को निर्जन स्थानों में, गुफाओं में और वनस्थलियों में ही सदा योगसाधना करनी चाहिये और वहीं यथाविधि ब्रह्म में ध्यानलय की क्रिया प्रारम्भ करनी चाहिये।

वही योगी त्रिदण्डी है, वही योगी महायति है, जो नियमतः 'वाग्दण्ड' अर्थात् वाक्संयम, 'कर्मदण्ड' अथवा आचार-व्यवहार

नियन्त्रण और मनोदण्ड अथवा मन का वशीकरण--इन तीन दण्डों को धारण किया करता है।

राजन् ! उस योगी के लिये, जो समस्त जगत् को, चाहे वह सत् हो अथवा असत् हो, अच्छा हो या बुरा हो और चाहे जैसा भी हो, आत्ममय देखता है, न तो कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय है।

वह योगी जिसकी बुद्धि विशुद्ध है, जिसके लिये मिट्टी और सोना एक समान है और जो समाहितचित्त से समस्त प्राणियों को समभाव से देखता है, अन्ततः शाश्वत, अक्षय परब्रह्म को ही अपना परमप्राप्य मानता है, ऐसे योगी का पुनर्जन्म नहीं होता।

वेदों के अध्ययन की अपेक्षा यज्ञयागों का अनुष्ठान अधिक श्रेयस्कर है, यज्ञयाग के अनुष्ठानों की अपेक्षा जप अधिक श्रेयस्कर है, जप की अपेक्षा ज्ञान अधिक श्रेयस्कर है और ज्ञान की अपेक्षा राग और आसक्ति से रहित ध्यान अधिक श्रेयस्कर है। जभी योगी इस ध्यान की प्राप्ति कर लेता है, तभी वह ब्रह्मात्मैक्यभाव की भी प्राप्ति कर लेता है अथवा परब्रह्ममय हो जाता है।

वह महात्मा योगी, जो समाहितचित्त होता है, ब्रह्मचिन्तन में लीन रहता है, योगसाधना में प्रमाद नहीं करता, जिसके वाक् मन तथा कर्म--तीनों विशुद्ध हैं जो एकान्त प्रेमी है और जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है, इस योगचर्या का वस्तुतः एकमात्र अधिकारी है और वही अपने योगबल से मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ है।

महामुनि दत्तात्रेय बोले :--

राजन् ! योगसाधना में यथाविधि निरत जो योगी अपनी चर्या ऐसी बना लेता है जिसके सम्बन्ध में मैं बता चुका हूँ वह सैकड़ों जन्म-जन्मान्तरों से भी इस संसार में लौटा कर नहीं लाया जा सकता।

ऐसा इसलिये होता है क्योंकि योगी विश्वरूप, विश्वेश्वर, सहस्र-पाद-सहस्रशीर्ष तथा सहस्रग्रीव-रूप विश्व के परमकारण परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करके परब्रमय होचुका होता है। जो

भी योगी ऐसा होना चाहता है उसके लिए यह आवश्यक है कि वह परब्रह्म की प्राप्ति के लिए परमपुण्यात्मक 'ओंकार' रूप एक अक्षर का जप करे। योगी का वेदाध्ययन वस्तुतः उसका यही 'ॐ' का जप है। अब इसके आगे मैं तुम्हें इसका स्वरूप बता रहा हूँ।

'ॐ' में तीन अक्षर हैं--पहला स्वर अर्थात् अकार, दूसरा स्वर अर्थात् उकार और तीसरा व्यञ्जन अर्थात् मकार। ये ही तीनों ओंकार की तीन तन्मात्रायें हैं जो क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामसिक मानी गयी हैं।

'ॐ' में जो ऊपर अनुस्वार रूप अर्द्धमात्रा है वह निर्गुण-निरञ्जन है जिसे केवल योगीजन ही जानते हैं। यह गान्धार स्वर में उच्चरित होती है जिसके कारण इसे गान्धारी माना जाता है।

योगी जब इस अनुस्वार रूप अर्द्धमात्रा का उच्चारण करते हैं तब उन्हें ऐसा प्रतीत होता है मानों यह उनकी मूर्धा से उच्चरित हो रही है जिससे वे अपनी मूर्धा पर धीमी चाल से चलती चींटी के स्पर्श सरीखे स्पर्श का अनुभव किया करते हैं।

इस स्थिति में योगी ओङ्कारमय हो जाता है और ओङ्कार रूप अक्षर में तन्मय होकर अक्षर अनिश्वर ब्रह्मरूप हो जाता है। योगी के लिये परब्रह्म लक्ष्य है, योगी का प्राण धनुष है और उसका आत्मतत्त्व बाण है। समाहितचित्त होकर ही योगी परब्रह्म रूपी लक्ष्य का वेध कर सकता है और जैसे बाण अपने लक्ष्य को विद्ध कर लक्ष्य में मिल जाता है वैसे ही योगी भी परब्रह्मरूपी लक्ष्य में तन्मय हो जाता है। 'अ-उ-म्' ये तीन अक्षर ही वस्तुतः तीन वेद हैं, ये ही भूः-भुवः-स्वः रूपी तीन लोक हैं, ये ही आहवनीयादि अग्नित्रय हैं, ये ही ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूप त्रिदेव हैं और ये ही ऋक्-यजुष् और साम हैं। योगी को अनुस्वार युक्त 'अ-उ-म्' की तीन मात्राओं को वस्तुतः इसी दृष्टि से देखना चाहिए।

इस अनुस्वार युक्त त्रिमात्र ओंकार में जो योगी योगलीन हो जाता है वह ब्रह्मलीन हो जाता है। इस त्रिमात्र ओंकार में, योगी के लिए, अकार भूर्लोक है, उकार भुवर्लोक है और अनुस्वार युक्त मकार स्वर्लोक है। योगी के लिए ओंकार की पहली 'अ' की मात्रा व्यक्त

है, 'उ' की मात्रा अव्यक्त है, तीसरी 'म्' की मात्रा चित् शक्ति है और अनुस्वार की अर्द्धमात्रा परब्रह्म रूप है। इसी क्रम से योगी को इन मात्राओं को उत्तरोत्तर उत्कृष्ट योग की भूमिकाओं के रूप में मानना चाहिए।

इस विश्व ब्रह्माण्ड में जो भी सत् अथवा असत् है वह सब 'ॐ' के उच्चारण में ही अन्तर्भूत हो जाता हैं। ॐ की पहली 'अ' की मात्रा ह्रस्व है, दूसरी 'उ' की मात्रा दीर्घ है, तीसरी 'म्' की मात्रा प्लुत है और जो अनुस्वाररूप अर्द्धमात्रा है वह तो वाणी का विषय ही नहीं। इस प्रकार जो परब्रह्म है वह वस्तुतः ॐकार स्वरूप है।

जो योगी ओङ्कार के इस रहस्य को जानता है और इसके ध्यान में लीन हो जाता है वह संसार-चक्र में घूमते रहने से छुटकारा पा जाता है क्योंकि उसके कार्मिक आत्मिक, तथा मायीय बन्धन टूट जाते हैं। वह योगी परात्पर परब्रह्म परमेश्वर में आत्मलय पा लेता है। किन्तु जिस योगी के कर्मबन्ध नहीं टूट पाये हैं वह योग के अरिष्टों अथवा महाविघ्नों को जान कर अपनी मृत्यु का ज्ञानप्राप्त कर लेता है।

ऐसा योगी अपने मृत्युकाल में ओंकार के स्मरण से पुनर्जन्म लेने पर योगी ही होता है। इसलिए, योगी के लिए, जिसकी योगसिद्धि अपूर्ण रह गयी हो, योग के अरिष्टों का भी सदा ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है क्योंकि इस अरिष्ट-ज्ञान से उसे अपनी मृत्यु वेला में साधारण मनुष्य की भांति कोई दुःख नहीं होता।

इन अध्यायों में वर्णित विषयों का काथबोध के साथ अतिशय समन्वय मिलता है। उङ्कार की उपासना का वृहत् वर्णन इस प्रसङ्ग से अतिशय समन्वित है। आयु, परशुराम तथा सांकृति भी दत्त के शिष्य थे।

दत्तात्रेय-दर्शन :—

पूर्णानन्द प्रज्ञान स्वरूप निर्विकल्प आत्मस्वरूप परमेश्वर है। यह पूर्ण ब्रह्म स्वरूप है, शुद्ध ज्ञान का स्फुरण जिस समय होता है। स्व प्रकाश आत्मा ही एक मात्र अवशिष्ट रहता है, अविद्या = अज्ञान कल्पित सभी विनष्ट हो जाते हैं, यह अवस्था ज्ञान

और अज्ञान से परे है। सृष्टि का संकल्प कर स्वतन्त्र शक्ति से समन्वित, आनन्दस्वरूपता संवरण कर अर्थात् काष्ठाकार स्व स्वरूप ज्ञान का ग्रहण करता है। 'अहं ब्रह्मस्मि' स्वयंज्ञान सृष्टि की आदि अवस्था है। मैं के रूप में ज्ञान महामाया है। यही महाकारण शरीर है। पूर्ण ब्रह्मस्वरूप महामाया से अतीत है। महादेह के स्वरूप में सृष्टि की सूचना मिलती है। यही उन्मुखावस्था है। यह मायाशवलित ब्रह्म की योगावस्था या शवलावस्था है, पर ब्रह्म का स्वस्वरूप ज्ञान 'स्वरूप सर्वज्ञत्व' है। यह तीनों शरीरों में साक्षी के स्वरुप में वर्तमान रहता है। नाद से पूर्णब्रह्म का सर्वेश्वरत्व मायामय विशुद्धसत्त्व स्वस्वरूप का प्रकाशक महाशरीर की अभिव्यक्ति होती है, इससे प्रणवपुरुष उत्पन्न होता है। नाद ही प्रणव पुरुष का बीज है। यह विशुद्धसत्त्व प्रणवपुरुष का चतुर्थ पाद है। योगियों की दृष्टि में यह अर्द्ध मात्रा है।

परमेश्वर स्वयं अपने को तिरोहित कर चैतन्यमयत्व की विस्मृति से अर्थात् स्वरूप का अवधान न रहने से। यह सत्य है स्वस्वरूपानुसन्धानावस्था अकुण्ठित रहती है फिर भी नित्य स्वरूप ज्ञान की विद्यमानावस्था में भी अचिन्त्यात्मक रूप में अपने चैतन्यमयत्व स्वरूप का अवधारन खुल जाता है। यही अव्यक्त = ईश्वर का मायाशरीर है। क्रमिक वृत्ति की लीनावस्था 'प्रलय' है। इस शरीर और इस अवस्था का अभिमानी तथा प्रकाशक स्वरूप परमेश्वर की रुद्रमूर्ति है। ये अप्रकाश स्वरूप तमोमय है, यह प्रणवपुरुष का तृतीयपाद--यह मकार मायाशरीर या कारण शरीर के नाम से जाना जाता है।

माया प्रधान महत्त्व अव्यक्त और निर्विकल्पक है। यह कर्त्ता, करण और कार्य स्वरूप को धारण कर देवता के स्वरूप में व्यक्त होता है--यही अव्यक्त या अविकल्पावस्था है। यह वही अवस्था है जहाँ आकार अवयव और सगुणभाव है, यही सूक्ष्म शरीर हिरण्यगर्भ है। प्रलयावस्था में जागरण के समय हिरण्यगर्भ सूक्ष्म शरीर में स्थित होता है। यह निद्रा से जागरण की अवस्था है। यह देहाभिमानी स्वरूप है, यही कर्त्ता, भोक्ता ज्ञाता विष्णु की मूर्त्ति है। हिरण्यगर्भ शरीर में माया प्रधान सत्त्व या स्फुरण विष्णु है?

इस अवस्था में वह प्रपञ्च के उन्मुख रहता है। तम का अवलम्बन कर विशुद्ध सत्त्व की अभिव्यक्ति प्रपञ्चज्ञान मायिकसत्त्व प्रणवपुरुष का द्वितीयपाद उकार है।

प्रपञ्चोन्मुख हिरण्य गर्भ गुण क्रिया से कर्त्ता, करण और कार्य के रूप में पाञ्चभौतिक शरीर धारण करता है। इस शरीर में चौदह भुवन वर्तमान है। जो विराट् रूप से परिचित है। विश्वात्मक यही ब्रह्म है। इसका अभिमानी कर्ता ब्रह्म है। विराट् शरीर, उत्पत्ति और ब्रह्मा क्रिया रूप और रजोगुणात्मक है। यह प्रणव पुरुष का प्रथम पाद अकार स्वरूप है। इस विराट स्वरूप की नाभि के नीचे सात पाताल और सात स्वर्ग जठर बड़वानल, दाढ़ों में यम, पेट में सात समुद्र है। चारों दिशाओं से आवेष्टित जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार और महत्त्व के मण्डल हैं भीतर के मण्डलों से बाहर का मण्डल दश गुण अधिक है। सात आवरणों से युक्त भीतर से खाली पृथिवीतत्त्व अण्डाकार है।

परशुराम त्रिपुर सुन्दरी की साधना का उपदेश :—

बृहस्पति के भ्राता सम्वर्त की तेजस्विता से आकृष्ट परशुराम ने क्षत्रियों के संहार जन्य महापाप से छुटकारा प्राप्त करने के लिए उपाय के साधन के लिए आग्रह किया परन्तु सर्वथा आत्मचिन्तन में निरत सम्वर्त ने उन्हें अपने समयाभाव के कारण गन्धमादन पर दत्तात्रेय के पास त्रिपुरा भगवती की आराधना हेतु दीक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा। गन्ध मादन के अत्यन्त सुरम्य प्रभावोत्पादक आश्रम के बाह्य कक्ष में स्थित तपस्वी से परशुराम ने दत्तात्रेय के आश्रम को पूछा। कुछ हँसते हुए तपस्वी ने कहा यही दत्तात्रेय का आश्रम है।

वे अन्दर विराजमान हैं उनकी कृपा से आपके आगमन का प्रसंग पहले ही ज्ञात हो चुका है आप अन्दर उनके पास जाएँ। अन्दर प्रविष्ट हुए परशुराम ने परम सुन्दरी वेश्या जो अपनी प्रेम चेष्टाओं से उन्हें आकृष्ट कर रही थी एवं सुरा से परिपूर्ण पात्र से युक्त उन महात्मा दत्तात्रेय का दर्शन किया। इस दृश्य के कारण महान् सन्देह होने पर भी सम्वर्त के उपदेश में पूर्ण श्रद्धा होने के कारण "महात्माओं के चरित्र अलौकिक होते हैं", यह मान कर दोष

दृष्टि न रखते हुए उन्हें प्रणाम कर उनके चरणों के पास बैठ गये। परशुराम का स्वागत करते हुए भगवान् दत्तात्रेय ने कहा "तुम कल्याण की लालसा से सन्मार्ग में प्रवृत्त हुए हो, जिसमें इन्द्रिय निग्रह के लिए जिह्वा और उपस्थ जिसमें प्रमुख हैं इन दोनों का जय अत्यन्त दुष्कर है अन्यथा कल्याण असम्भव है, यद्यपि मैं इन दोनों इन्द्रियों के उपभोग की सामग्री सुरा-वेश्या इन दोनों को अपने पास ही रखता हूँ जिसे देखकर इस तपोवन के सभी महात्मा मेरा साथ छोड़कर घृणा करते हुए चले गये हैं तथापि तुम मेरे पास कैसे आये हो ?

इस प्रकार सुन कर परशुराम ने "महात्मा सम्वर्त के उपदेश से" मैं पूर्ण श्रद्धा से आप की शरण में आया हूँ, आप शरणागत का परित्याग न कर मुझे उपदेश दें। इस प्रकार उनकी अनन्य निष्ठा से प्रसन्न दत्तात्रेय ने उन्हें "तांत्रिक प्रत्यभिज्ञा-दर्शन" के अनुसार उपदेश दिया। जिसके अन्तर्गत जो मूल तत्व परमशिव है 'वही मैं हूँ' ऐसी प्रत्यभिज्ञा से ही जीव कृतार्थ होता है। परन्तु यह प्रत्यभिज्ञा भगवती त्रिपुर-सुन्दरी की कृपा के बिना नहीं हो सकती। अतः मैं तुम्हें भगवती का तत्त्वज्ञान तथा उपासना की सारी विधियाँ मैं बता रहा हूँ इसको धारण करो। उन सब विधियों को जानकर तथा दीक्षा लेकर परशुराम त्रिपुर सुन्दरी की आराधना के लिए मलय पर्वत पर चले गये।

ब्रह्मा के द्वारा स्मृति शक्ति प्राप्त होने पर सुमेधा ने त्रिपुरा-रहस्य नामक ग्रन्थ को दत्तात्रेय-परशुराम सम्वाद के रूप में ही निर्माण किया है। जिसके अन्तर्गत सर्वप्रथम पराम्बा भगवती का सर्वप्रथम अवतार कुमारिका के रूप में हुआ था इन्द्र अग्नि वायु और सोम के मध्य अपनी-अपनी श्रेष्ठता को लेकर विवाद होने पर सभी लोग उस विवाद के निर्णय के लिए विष्णु के पास गए, विष्णु ने शंकर का स्मरण किया, शंकर ने भगवती की माया से सम्मोहित देवताओं की शान्ति के लिए भगवती के ध्यान और स्तुति की प्रेरणा की। त्रिदेवों की स्तुति से प्रसन्न महाभयानक शब्द के मध्य देवी का प्रादुर्भाव हुआ। जिस शब्द के कारण त्रिदेवों के अतिरिक्त सभी देवता मूर्च्छित प्राय हो गये। संज्ञा प्राप्त होने पर उस महातेजोमयी मूर्ति का परिचय प्राप्त करने गये, अन्य अग्न्यादि देवता अभिमान के

वशीभूत थे, अतः उस मूर्ति के द्वारा दिये गये एक तृण को न तो जला सके और न उड़ा सके या गीला ही कर सके अन्त में इन्द्र भी कुछ न कर सके और निस्तेज हो गये। उन सभी के निस्तेज हो जाने से बृहस्पति के द्वारा स्तुति करने पर भगवती ने अपने सौम्य स्वरूप का प्रकाश कर कृपादृष्टि से इन्द्रादि के मोह का नाश किया। यही भगवती पराम्बा का प्रथम अवतार भगवान् दत्तात्रेय ने वर्णित किया है।

अनन्तर भगवान् दत्तात्रेय ने उस पराम्बा भगवती के तीन अवतारों का वर्णन किया है, त्रिदेवों को स्वशक्ति प्रदान करने के लिए अपने अंश से श्रीलक्ष्मी, पार्वती एवं सरस्वती के रूप में देवी प्रादुर्भुत होती हैं। जिनके माहात्म्य को जानने के लिए समुत्सुक परशुराम को लक्ष्मी पार्वती एवं सरस्वती की विभिन्न लीलाओं का विस्तृत वर्णन सुनाते हैं। नाना प्रकार के आख्यानों को सुनाते हुए परशुराम की जिज्ञासा शान्त करने के लिए दत्तात्रेय ने सौभाग्याष्टोत्तरशत-नामक स्तोत्र का वर्णन करते हैं, जिसे पूर्वकाल में पार्वती के अनुरोध से भगवान् शिव ने वर्णन किया था। पुनः क्रमशः गौरी के उपाख्यान का श्रवण करते हुए बृहस्पति द्वारा इन्द्राणी के लिए कहे गए गौरी के अष्टोत्तर शतनाम स्तोत्र को जानने की इच्छा से परशुराम ने दत्तात्रेय से पूछा। दत्तात्रेय ने गौरी भगवती के नामों वाला मनोहर वाञ्छित फल देने वाले स्तोत्र को परशुराम से कहा है। क्रमशः त्रिपुरा महेशानी की अन्य लीलाओं का वर्णन करते हुए शिव द्वारा कामदेव के भस्म होने के वृत्तान्त को सुनकर आश्चर्यान्वित होते हुए उन्होंने (शिव ने) कामदेव को क्यों भस्म किया तथा ज्वालामुखी द्वारा श्रीविष्णु का सुदर्शन जला देने के बाद भी पुनः उनको कैसे प्राप्त हुआ। इस प्रकार भार्गव के प्रश्न को सुनकर इस कथा का सविस्तार वर्णन किया है। जिसमें श्रीविष्णु की उग्र तपस्या से सन्तुष्ट गौरी के अंश से समुत्पन्न ज्वालामुखी ने त्रिपुरेशानी के विधान की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए उस सुदर्शन सहस्रार को मुर नामक दैत्य को मारने एवं लोक में मङ्गल विधान करने के लिए दे दिया।

कुमार कार्तिकेय के आश्चर्य जनक जन्म वृत्त को जानने के लिए परशुराम ने दत्तात्रेय से पूछा। इस प्रकार अत्रिपुत्र दत्तात्रेय ने तारक द्वारा प्रताड़ित देवगणों के सेनापतित्त्व के लिए शंकर-पार्वती के

समागम के समय देवताओं की प्रार्थना से स्खलित वीर्य का क्रमशः पृथ्वी, अग्नि, गङ्गा और शरवण के द्वारा धारण किया जाना बताया है, जिसमें भस्मासुर दैत्य के कारण शंकर से वियुक्त पार्वती का शरीर अत्यन्त जर्जर हो जाने से हजारों टुकड़ों में विभक्त होकर गिरा। उसी विशीर्ण शरीर से निकले हुए कास के बन में ही शिव के इस ओज के धारण का सामर्थ्य होने से उसी समय पूर्ण होने पर करोड़ों सूर्य के समान कमनीयाकृति कुमार का प्रादुर्भाव की कथा बतायी जिसका नाम कार्तिकेय हुआ, 'पहले मैं दूध पिलाऊँ, पहले मैं' इस प्रकार की होड़ के कारण उस कुमार ने एक साथ छ मुख धारण कर कृतिकाओं का स्तन्य-पान किया, इससे कार्तिकेय षडानन हुए। तदनन्तर देवताओं के उपहार से समन्वित सेनापति पद को प्राप्त कर स्कन्द ने बहुत से असुरों तथा तारक और शूरपद्म का वध कर तीनों लोकों को शान्त किया। इससे परशुराम को सन्देह हो गया कि बड़े-बड़े देवगणों से भी अजेय राक्षसाधिपतियों को स्कन्द ने कैसे जीत लिया? इस सन्देह का निवारण दत्तात्रेय अवान्तर कथा के द्वारा करते हैं। ब्रह्मा के पुत्र श्रीसनत्कुमार जो सर्व सत्त्वात्मक थे ऋषभ पर्वत पर निवास करते थे उनको देखने ब्रह्मा जी आये। उनसे आज्ञा लेकर विनम्र भाव से सनत्कुमार ने पूछा, मैंने पूर्व रात्रि में देवों-दैत्यों का घोर संग्राम देखा, जिसमें सभी असुर मेरे द्वारा मारे गये; बिना कारण ऐसा क्यों हुआ? ब्रह्मा जी ने बताया--प्राचीन काल में तुम ब्रह्मविद्या निरत, जन्म-जन्मान्तर की बातों को जानने वाले ब्राह्मण थे तभी देवासुरों का संग्राम सुन कर आपने संकल्प किया कि असुरों को जीत कर पुनः लक्ष्मी को देवताओं को सौंप दूँगा। तब वैश्वानरविद्या की उपासना में तत्पर हुआ तू काल गति को प्राप्त हो गया। फिर भी तू खण्ड उपासना के कारण मेरा पुत्र बना। उसी पूर्व वासना के कारण स्वप्न में ऐसा दृश्य दिखाई पड़ा। अधिक समय बीत जाने पर पार्वती सहित शंकर बैल पर आरूढ़ भ्रमण करते हुए वहाँ आने पर सुनिश्चित शान्त सौम्य भाव वाले मुनिश्रेष्ठ को देखकर पार्वती सहित वहाँ गये, किसी इच्छा के न होने पर उन्होंने देखा तक नहीं, तब अपनी अवज्ञा मानकर उनके परिपक्व हृदय की परीक्षा के लिए शंकर ने कहा--मूढ़-बुद्धे! सत्पुरुषों की अवज्ञा कर तुमने अन्यायी के आचरण को प्राप्त किया है; फिर भी ब्रह्मा का पुत्र होने से मैं

तुम्हें क्षमा करता हूँ। ऐसा सुनकर अपने ब्रह्मात्मत्व के अनुभव का प्रतिपादन करते हुए अपने को निर्भय व्यक्त करते हुए उनसे अविलम्ब शाप देने को कहा। ऐसी विकार रहित अवस्था को देखकर उन्हें नमस्कार कर वर माँगने को शिव ने कहा तथापि सनत्कुमार ने कहा मैं मायावी लोगों द्वारा कम्पित नहीं हो सकता, जैसे प्रबल प्रभञ्जनों से आकाश में कोई विकृति नहीं होती, अतः यदि आपको कुछ चाहिए तो आप मुझसे वर माँग लें। शिव ने उनको पुत्र रूप में माँग लिया। उन्होंने तथास्तु कह कर पार्वती के विशेषाग्रह से अपने अयोनिजत्व के कारण पूर्वकाल में शरवन के रूप में परिणत पार्वती के शरीर के माध्यम से उनका भी कथन स्वीकार कर स्कन्द के रूप में अवतीर्ण हुए और अपने पूर्व प्रभाव के कारण ही असुरों के संहार में प्रवृत्त हुए। पुनः गोपगृह में विन्ध्यवासिनी का जो अवतार हुआ उसके विषय में जिज्ञासा प्रकट करने पर श्रीदत्तात्रेय ने उन्हें कथामृत पान करने एवं भगवती त्रिपुरेश्वरी की लीलाओं के सुनने में उत्तरोत्तर बढ़ती जिज्ञासा के लिए साधुवाद देते हुए प्रथम गुह्य अर्थों से परिपूर्ण मातृका-स्तुति का वर्णन परशुराम से करते हैं। तदनन्तर मथुरा के सभी व्रज में नन्द गोप के यहाँ कन्या रूप से जो भगवती का जन्म हुआ तथा कंस के यहाँ लाई गई भगवती के द्वारा जो असुरों के विनाश का उपक्रम हुआ उसे विस्तार से कह सुनाया। अत्रिपुत्र श्री दत्त के द्वारा श्री छ ललिताम्बाओं के विभिन्न चरित्रों तथा उनके माहात्म्यों को सुनकर कृतार्थ हुए परशुराम अपने को धन्य मान कर पूछा कि कुम्भज अगस्त्य मुनि ने पहले ही भगवती के श्रीचक्र को क्यों नहीं देखा ? फिर बाद में उसे कैसे देखा ?

इस प्रकार की जिज्ञासा करने पर इस रहस्य को दत्तात्रेय ने इस प्रकार बताया। पूर्व जन्मों की संचित वासनाएँ एवं संस्कार ही इसके कारण है। जब-जब जिस-जिस देवविशेष की सत्सङ्गति प्राप्त होती है। तब-तब उस देव सम्बन्ध में रुचि एवं भक्ति का अवसर बनता है। श्रीहयग्रीव को प्राप्त कर त्रिपुरा के वैभव को सुनने से ही मुनि अगस्त्य की त्रिपुरा में भक्ति उत्पन्न हुई और तभी अपनी पत्नी लोपामुद्रा से उन्होंने दीक्षा प्राप्त की, क्योंकि दीक्षा प्राप्त किये बिना त्रिपुरा का भक्त होने पर भी कोई व्यक्ति मोक्ष भवन के सोपान पर चढ़ सकने में सक्षम नहीं हो सकता। इस वर्णन क्रम में भगवान्

दत्तात्रेय ने आगम का स्वरूप, आगमशास्त्र का महत्त्व, तथा वैदिक एवं तान्त्रिक सिद्धान्तों का तुलनात्मक वर्णन किया और वेद में भी जो परम तत्त्व का वर्णन है वह तथा उस परम तत्त्व को जानने एवं प्राप्त करने का जो मार्ग है, वे सब अत्यन्त गोपनीय रखे गये हैं, जो अष्ट पाश युक्त मनुष्य पशु है वही लोकेषणा-पुत्रैषणा-वित्तैषणा आदि के लिए ही प्रयत्न कर पशु फल को ही प्राप्त करने में लगा रहता है। इस प्रकार बताते हुए वैदिक सम्प्रदाय और तान्त्रिक सम्प्रदाय के अविरोध का भी विस्तृत वर्णन किया है। इसके अनन्तर भगवती की आराधना में उद्यत व्यक्ति नित्य कर्म करता हुआ किसी विशेष कर्म से राजा अथवा अकिञ्चन व्यक्ति भी उस महाफल को कैसे प्राप्त कर सकते हैं इसका वर्णन किया है।

इसके उत्तर में श्रीदत्त गुरु ने उपासक के मुख्य धर्मों का वर्णन करते हुए श्रीदेवी के आराधना-प्रकार, श्रीचक्र-स्थापन-पूजन तथा अन्य विभिन्न यन्त्रों में श्रीदेवी की पूजा के अनेक विधानों का एवं उन-उन आराधनाओं से प्राप्त फलों का वर्णन किया जिसके अन्तर्गत नाना प्रकार की आरतियाँ तथा श्रीचक्रराज के दान का महाफल तथा श्रीविद्या-सम्प्रदाय, दीक्षा की फलश्रुति तथा दीर्घकाल तक उपासना के द्वारा महाफलों की प्राप्ति का वर्णन परशुराम को दत्तात्रेय सुनाते हैं।

भूतल में पचीसतत्त्व अभिव्यक्त रहते हैं, अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार—ये पाँच तत्त्व कर्त्ता के रूप में और पन्द्रह तत्त्व करण के रूप में, अवशिष्ट पाँच वासनामय विषयों के रूप में रहते हैं, ये स्थूल विषय या पञ्चमहाभूत हैं। इसमें पाञ्चभौतिक-मैल उत्पन्न होता है, जल से स्निग्ध, अग्नि के ताप से शुक होकर ऊपरी दृष्टि से घट के समान रहता है। यही कारण है कि योगियों की दृष्टि में यह शरीर घट है। वायु से पूर्ण पोला है। स्थूल विषयों की अनुभूति के लिए बाह्य छिद्र है। परमेश्वर का सूक्ष्म शरीर हिरण्यगर्भ है, इसमें भी पूर्वोक्त पाँच कर्ता है, ये सत्त्व स्वरूप, ज्ञानमय, परमसूक्ष्म है। अण्ड में रहकर भी असंग होने से उनसे अलग हैं, आँख, कान आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ करण हैं। वाणी, पाद आदि पाँच इन्द्रियाँ कर्म करण है; ये ही पाँच वायु की चेष्टा में करण है। फलतः पन्द्रह करण हुए, ये सभी भिन्न नहीं हैं, कर्त्ता और करण स्वरूप

तत्त्व ज्ञान रूप है। अव्यक्त और स्थूलाशों का आधार होने से स्थूल अंश से विलक्षण हैं, अन्तःकरण या सत्त्वगुण के अधिष्ठाता विष्णु हैं, मनः या रजस्तत्त्व के अधिष्ठाता चन्द्रमा हैं, बुद्धि या रजोगुण के अधिष्ठाता ब्रह्मा है, चित्त या रजस्तत्त्व के अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञ हैं, अहङ्कार या तमोगुण के अधिष्ठाता रुद्र हैं, पन्द्रहकरणों के भी अधिष्ठाता हैं, त्वचाकी वायु, कर्णेन्द्रिय की दिशायें इत्यादि। अद्वितीय पूर्ण पुरुष की भय प्रधान आत्मा अज्ञान ही अविद्या है। आत्मज्ञान से अविद्या को पृथक् किया, उसके अधिष्ठान से अविद्या के कारण सम्पूर्ण विश्व का स्फुरण हुआ। प्रजापति का आत्म-विषयक अज्ञान ही विश्व की कल्पना है, अतः अविद्या के नाश से विश्व की भी प्रतिष्ठा नहीं रह सकती है।

मुख्यत्वेन प्रजापतिना आत्मस्फुरणेन विश्वकल्पना कृता।

जीव सृष्टि ब्रह्म संकल्प है, जीव प्रतिबिम्ब स्वरूप है, बिम्ब का समान धर्म प्रतिबिम्ब में दिखाई देता है। जीव ईश्वर का आराधनात्मक कर्म करता है और ईश्वर शरणागत जीव पर अनुग्रह करता है एवं उससे अभोष्ट की सिद्धि करता है—ये ही दोनों के व्यवहार हैं। अविद्या की विचित्रता ही बिम्ब से प्रतिबिम्ब-रूपता आधान करती है। जीव, ईश, अविद्या, चित्, जीव और इसका भेद ये अनादि है। जीव ईश्वर का कल्पित प्रतिबिम्ब अवधूत मत में माना गया है। स्वप्न कल्पित वस्तु के समान ही मायिक वस्तु में व्यवहार चलता है। जागरण से सब अन्तर्हित होते हैं, किन्तु ब्रह्म-साक्षात्कार से सभी जीवों की आश्रय रूप में सत्यता है। अवधूत मत में बन्ध-मोक्ष, ब्रह्म साक्षात्कार के समान ही सत्य है। क्योंकि, आराधना यहाँ साधन है। जीव को कल्पित मानने पर भी यह सम्भव नहीं है। जीव की अविद्या निवृत्ति होती है, जीव-भाव की निवृत्ति होती है, ईश्वर की सत्यता, संकल्प की सत्यता, जीव की सत्यता, अविद्या की सत्यता ये सभी मायिक हैं, माया की निवृत्ति सभी तिरोहित हो जाते हैं। विराट् पाञ्चभौतिक है, असंख्य स्थूल शरीर उसके असंख्य अंश हैं, एक ही हिरण्य गर्भ शरीर से जीवों के असंख्य लिङ्ग शरीर स्फुरित होते हैं।

दत्तात्रेय के मत में, पिण्ड (शरीर) की निद्रा, ब्रह्माण्ड की निद्रा (दैनिक प्रलय), पिण्ड का मरण, ब्रह्माण्ड का मरण (महा-

प्रलय) और आत्यन्तिक प्रलय। जिस समय ज्ञान की करण वृत्तियाँ, कर्म की करण वृत्तियाँ, और वासनात्मक विषय कर्ता को पूर्वोक्त पाँच वृत्तियों में पूर्ण रूप से लीन हो जाती हैं तो उसे निद्रा कहा जाता है। कर्ता पाँच इन्द्रियों के साथ आत्म अज्ञान रूप कारण शरीर में लीन हो जाता है। इस समय सत्त्व अंश मात्र से कर्त्ता को वृत्ति के द्वारा वासना मय विषयों का स्फुरण होता है। सुषुप्ति अवस्था में कर्ता, करण और कार्य तीनों का उपसंहार हो जाता है। उस समय जीव जड़ के समान रहता है।

ब्रह्मा के चार हजार महायुग ब्रह्मा का एक दिन और इतना ही परिमाण रात्रि का भी होता है, इस समय दशकरण कर्ता में लीन होते हैं और कर्ता सूक्ष्म अव्यक्त में प्रसुप्त होता है। यही योगनिद्रा भी है, सभी जल-मग्न रहते हैं, ब्रह्मा, विष्णु और महेश आत्माराम हो आते हैं। जीव भी अव्यक्त में सो जाते हैं यह परमात्मा की निमेषावस्था है, निद्रावस्था नहीं है।

प्रलय के अवसान में ब्रह्मदेव का जागरण जल मध्य में बटपत्र पर सुप्त विष्णु का जागरण और आत्मपद का परित्याग कर रमणावस्था का प्रारम्भ होता है। विष्णु स्थिति-कर्ता है, अतः कर्तव्य का ध्यान ही जागरण का कारण है, अतः निद्रा की विस्मृति न होने से जागरण हो जाता है। योगनिद्रा थी और यह उसका परित्याग है। नाभिकमल से ब्रह्मा का जागरण और रुद्र ब्रह्मा के नेत्र से प्रकट होता है। अनन्तर "यथापूर्वम्" जगत् की सृष्टि होती है।

प्रारब्ध नाश के साथ स्थूल देह से पृथक् होना ही मृत्यु है। सभी वृत्तियाँ अज्ञान में लय प्राप्त करती हैं और अज्ञान से वासनात्मक शरीर का आविर्भाव होता है, जीर्ण-शीर्ण शरीर का त्याग कर अन्य शरीर का ग्रहण ही मृत्यु है।

ब्रह्मा की सौ वर्ष की अवस्था होने पर महाप्रलय होता है, यह परमात्मा का शयन और ब्रह्मा की मृत्यु है। सब का महामाया में उपसंहार हो जाता है। परमात्मा में आत्म-ज्ञान के स्फुरण से पृथक् स्वरूप को लीन कर आनन्दमय, अनन्त, अव्यय तथा स्वसंविज्ञानमय सत्ता को धारण कर निर्विकल्पक स्वरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है। जीव अज्ञान में आकर माया में निद्रित ब्रह्म में लौट आते हैं।

आत्मज्ञान के बिना ब्रह्मज्ञान नहीं होता है और ब्रह्मज्ञान के बिना अज्ञान का नाश नहीं होता है। जीव के ब्रह्म में लौटने पर जीव-भाव संस्कार रूप में रह जाता है, अतः सृष्टि के समय ईश्वर से कारणोपाधि के द्वारा निकलते हैं। प्रलय का कर्ता महारुद्र, रुद्र प्रलयाग्नि के साथ भयंकर भैरव स्वरूप धारण कर ताण्डव नृत्य करते हैं। प्रकृति का विनाश नहीं होता है। प्रकृति के कारण सर्वज्ञत्व अक्षुण्ण रहता है। आनन्द-मय ज्ञान स्फुरित रहता है। गुण साम्यवादी महामाया का स्वरूप है। इस महामाया से सम्बद्ध परमेश्वर है। इस अवस्था में भी माया, अविद्या, जीव और ईश्वर का भेद रहता है, यह स्वरूप-गत भेद होने से स्वगत भेद है। स्वगत भेद की समाप्ति ही आत्यन्तिक महाप्रलय है। इस प्रलय में संहारकर्ता रुद्र नहीं रहते हैं, इस समय परमात्मा प्रलय करता है।

माया एक है और वह समष्टि स्वरूप है, जीव व्यष्टि स्वरूप है, बन और वृक्षों के समान ही इनका भी भेद मिथ्या है। सभी जीव-परमात्मा का स्वरूप हैं, आत्मज्ञान ही परमात्मज्ञान है। आत्म-ज्ञान के उदय होने से पूर्व ईश्वर की आराधना आवश्यक है। सभी नाम, सभी रूप, सभी क्रियायें एक की ही हैं—यह अवगत कर आराधना करनी चाहिए। सर्वदेवमय, सर्वभूतमय, सर्वलोकमय, सर्वमय, सब के साथ एक ही परमात्मा है। उनकी विशिष्ट मूर्ति की आराधना करनी है। ये मूर्तियाँ शिव, शक्ति, विष्णु, सूर्य और गणेश की हैं—जो समान हो वेद विरुद्ध आचरण एवं वेद विरुद्ध उपासक का नाश निश्चित है—यह अवधूतों की मान्यता है। असंग एवं निष्काम उपासना से आत्मज्ञान होता है। आत्मज्ञान-रहित देवोपासना उपासित देव के लोक की प्राप्ति का कारण है। यह सालोक्य है इसी प्रकार सारूप्य और सायुज्य की भी प्राप्ति होती है—यह उपासना पर निर्भर है, किन्तु पुण्य-क्षय के साथ पुनः आगमन निश्चित है।

काथबोध के अनुसार अद्वितीय आनन्दमय ब्रह्म की प्राप्ति ही मानव के कर्तव्य की सीमा है, इसके लिए आत्मज्ञान आवश्यक है और इसकी भक्ति एवं योग से अर्थात् भक्तियोग से होती है। अद्वैत की मान्यता होने पर भी भक्ति की ही ज्ञान के लिए आवश्यकता है। आत्मज्ञान से अशेष वैभव की प्राप्ति हो जाती है और वह महामाया

के प्रसाद से अनेक प्रकार के स्वातन्त्र्य से लोकानुग्रह के लिए सक्षम हो जाता है।

काथ बोध

यह ग्रन्थ सजनि की टीका से विभूषित उपलब्ध है। यह दत्तात्रेय सम्प्रदाय का आधारभूत ग्रन्थ है। इसकी अनेक टीकाएँ मातृका के रूप में उपलब्ध हैं, जो आज भी अप्रकाशित है। अनेक चर्चाओं के आधार पर चौदहवीं शताब्दी में श्रीनृसिंह सरस्वती ने दत्तात्रेय-सम्प्रदाय को चलाया, इन्हीं के शिष्य श्रीगङ्गाधर सरस्वती ने 'गुरुचरित्र' ग्रन्थ की रचना की है। श्रीपाद, श्रीवल्लभ, श्रीनृसिंह सरस्वती, श्रीएकनाथ, श्रीजनार्दनस्वामी, अघोरी बाबा, कीनाराम, अवधूत सदाशिव, ब्रह्मेन्द्र स्वामी, श्री अकलकोट स्वामी, श्री सौर्य बाबा, श्री बासुदेवानन्द सरस्वती आदि महात्मा प्रसिद्ध हैं। नूरी बाबा, आलमबक, एवं समर्थ रामदास का इनके साथ सम्बन्ध रहा है। अपनी पादुकाएँ और दण्ड इन्हें प्रदान किया गया है।

अन्य आचार्यों की विशिष्ट चर्चा न कर श्री कीनाराम के सम्बन्ध में कह रहा हूँ, इनका जन्म वि सं. १६८४ के आस-पास वाराणसी के रामगढ़ ग्राम में माना जाता है। सौराष्ट्र के सिद्धपीठ गिरनार में अनेक वर्षों तक तपस्या की, दत्तात्रेय ने दर्शन देकर अघोर मन्त्र का उपदेश दिया। इनके विषय में अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। जूनागढ का नबाब साधुओं को त्रस्त करता था, चक्कियाँ चलवाता और जेल में रखता था. बाबा कीनाराम को भी जेल जाना पड़ा, बाबा ने चक्की को आदेश किया ''चल'' ६८१ चक्कियाँ एक साथ चलने लगीं, नबाब ने बाबा से माफी माँगी। इसी प्रकार गङ्गा में बहते हुए मुर्दे को भी इन्होंने जीवित किया था। इन घटनाओं का संग्रह 'विवेकसार' नामक ग्रन्थों में किया गया है। १४२ वर्ष की अवस्था में इन्होंने ऐहिक लीला समाप्त की थी। इसी प्रकार दत्तात्रेय सम्प्रदाय के अन्य शिष्यों की भी अलौकिक कथाएँ हैं। विस्तार के भय से यहीं भूमिका का संवरण किया जा रहा है।

श्रीविद्या की उपासना एवं दत्तात्रेयतन्त्र की साधना तन्त्रामोद आदि से अवगत करें।

दुर्लभ ग्रन्थ के प्रकाशन में चौखम्भा संस्कृत संस्थान के विद्या-व्यसनी संस्कृत ग्रन्थों के उद्धार के लिए सतत सचेष्ट श्रीमान् मोहनदास गुप्त एवं उनके सुपुत्र श्री राजेन्द्र कुमार की मैं सतत अभिवृद्धि को कामना करता हूँ, जिनके उत्साह और निष्काम प्रयास से ये ग्रन्थ सुलभ हो रहे हैं। इन्हीं के प्रेमपाश में आबद्ध होकर इस ग्रन्थ का सम्पादन और आलोचनात्मक भूमिका का लेखन सम्भव हो सका है। मैं इनका आभार वहन करते हुए यशोराशि से परिबृंहित करने की भगवान् से कामना करता हूँ।

प्रेस के संचालन में दक्ष श्रीब्रजरत्न दास गुप्त की उद्वेगशून्यता एवं पुनः-पुनः संशोधन करने पर भी किसी प्रकार की म्लानता न देखकर उनके धैर्य की प्रशंसा करना कर्तव्य कोटि के अन्तर्गत है। मैं इनकी सतत अभिवृद्धि की कामना करता हूँ।

मेरे प्रमाद को मुझे समर्पित कर मनीषिगण इसके ग्राह्य अंश का आस्वादन कर मेरे श्रम को सफल करें।

रक्षाबन्धन
दिनांक ६-८-८७

महाप्रभु गोस्वामी

प्रस्तावना

अनादिनिधनो देवः सर्वव्यापी निरञ्जनः ।
हृदयस्थः स्वयं वक्ता कर्त्ता कारयिता हरिः ॥
यन्तु कर्म्मणि यस्मिंस्तु न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः ।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥

अस्ति चाऽतिगुप्तलुप्तसद्रहस्यमयप्रथितगोरक्षसम्प्रदाय इव दत्तात्रेयसम्प्रदायो लोकेऽस्मिन् , नाना देशेषु तदीयमठमन्दिरोपासकानां सद्भावात् । तत्र खलु सम्प्रदायरहस्यवेत्तुरदर्शनात्तद्रहस्यप्रख्यापकग्रन्थानां विरलप्रचारत्वाच्चाज्ञानां दग्धवदनानां हस्तन्यस्तगजमौक्तिकमालिकाया इवाऽस्य सम्प्रदायस्य दुर्गतिरुपगतेति पराऽपरविद्यानुशीलनशीलैः सर्वैरभ्युपगम्यते । गोरक्षसम्प्रदायस्य कियान् ग्रन्थो यस्य परापरविद्याविलासवशेन विद्याविलासयन्त्रालयं समाश्रित्य विहितस्वरूपस्सन् शास्त्रैषणापराणां दृष्टिविषयतां प्रपेदे, तस्यैव सर्वथा यत्नेन कुतश्चिदवधूतवर्य्यात् समासदितः लिपिकरप्रमादादसङ्गतापाठक्रमः समस्तशास्त्रप्रमाणशिखरीभूतोपनिषदुक्तषण्णवतितत्त्वसारभूतरहस्यसमष्टिमयोऽयं ग्रन्थः काशीस्थराजकीयविद्यालयग्रन्थसंग्रहभवनेऽवनेः शारदाभने संरक्षित आसीत् ।

सच्चिदानन्दविभवमयस्य भगवतोऽनन्तविग्रहेषु विशिष्टतमविग्रहेण पुराणतन्त्रादिषु समुट्टङ्कितदत्तात्रेयनामधेयेन

सम्प्रदायेषु सुप्रसिद्धेन योगीश्वरेण ग्रथितः तत्त्वमयो निबन्धः श्रुतिसारनामकोऽध्यगायि, यश्चाचिरेणैव तेन काशीस्थराजकीयविद्यालयप्रधनाध्यक्षवर्य्येण महानुभवेन शास्त्रपारावारगामिना श्रीमता गोपीनाथकविराजेन स्वसारस्वतमन्दिरात् संशोध्य मुद्रायन्त्रनियन्त्रणेन विदुषां गोचरतामापादयिष्यते ।

श्रीमत्सन्तोषानन्दकृतस्य ग्रन्थस्याऽस्य च "काथबोध" इति पारिभाषिकसंज्ञाया जीवेशपरता तु अन्तर्यामिणा भगवता दत्तेनैवाऽकारि ।

अस्य टीका तु सुविस्तारगम्भीरार्थपरापरविद्याविलासवत्या सन्तोषानन्दशिष्यया सुविदुष्या राजन्याख्यया वितेने, तत्रैव तया चान्ते प्रतिश्लोकसारान् संक्षेपेणैव विधाय मन्त्रात्मकतया चाऽस्येतिकर्त्तव्यता विहिता ।

निगमाऽगमवर्त्मानुवर्त्तमानानां न्यायवैशेषिकसांख्यपातञ्जलपूर्वोत्तरमीमांसादीनामतिप्रख्यातानां दर्शनेतिहासादीनामन्तरमपि तत्त्वमन्त्रमयो ग्रन्थः स्वमहिम्नैव चतुष्कोटिविनिर्मुक्तान्तस्तत्त्वरहस्यकीर्त्तनेन स्वपदमलङ्करिष्यते । अतिकलुषे तमोबहुले कलौ त्रिविधदुःखैः परितप्यमानानां संसारदावदाहदंदह्यमानानां जीवानां निरुपायतामवलोक्य परमकारुणिकेन भगवता षड्विंशश्लोकैर्व्यस्तसमस्ततत्त्वरूप. षण्णवतितत्त्वानां युगोचितोपायोपेयात्मकं सारमाकलय्य कलेरुचितविधिविहितयमनियमासनानुष्ठानपुरःसरप्राणानामा-

यामसन्धिसन्धानाऽभिसन्धीयमानसार्थनामजपसरणिरभिहिता, —यथा हि, विष्णुपुराणे—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ सङ्कीर्त्य केशवम् ॥

अत्रैव वैशिष्ट्यमावहन्—क्षुद्रतमोऽपि चाऽयं ग्रन्थः संक्षेपेणैव निबद्धतया हि क्षौद्रमिव मधुव्रतानां तत्त्वरसिकानामाकूतिं सङ्केतयन् नितरां परतोषं विधास्यतीत्याशासे । इति शम् ॥

इति विज्ञापक—
श्रीमुकुन्दलाल शर्म्मा

विषय-सूची

पहला श्लोकः—गुणागुणस्वरूप की स्तुतिकर जप और श्रवण के द्वारा सुख की प्राप्ति करे। ४

दूसरा श्लोकः—हंसमन्त्र सद्‌गुरु के नाम पूर्वोक्त ज्ञान से सभी मन्त्रों के जप का अधिकारित्व का प्रतिपादन। १०

तीसरा श्लोक और चतुर्थ श्लोकः—ईश्वर और गुरु की स्तुतिकर तृसीय श्लोक और चतुर्थ श्लोक से शिष्य के द्वारा तीन प्रश्न १३-१५

पाँचवाँ श्लोकः—काथ शब्द के महावाक्यार्थ के व्याख्यान से वेद्य फल की प्राप्ति। १७

छठवाँ श्लोकः—काथों को कायी और काय की संज्ञा कहने से आरोग्य की प्राप्ति। २१

सातवाँ श्लोकः—महावाक्य के विचार से लक्ष्य की एकता का ज्ञान होने से सद्यः मोक्षकी प्राप्ति होती है। २३

आठवाँ श्लोकः—लोक अलोक शीत उष्ण और लय के बोध से सद्भाव सम्पन्न गुरु से अनुगृहीत को शीत और उष्ण से प्रतिबन्ध नहीं होता है। २५

नौवाँ श्लोकः—चौबीस और पचीस कूटस्थ का अव्यक्त बोध होने से उपाधिद्वय की निवृत्ति होकर छब्बीस के साथ एकता के ज्ञान से विक्षेप का शमन होता है। २७

दसवाँ श्लोकः—त्रिपुटी का निवारण कर सत्संवित्ति से योग के अनुभव से योग की पुष्टि होती है। ३०

ग्यारह श्लोकः—सकार्य अज्ञान के अहङ्कार भाव के निवारण से ज्ञान की प्राप्ति होती है। ३३

बारह श्लोकः—व्यक्तदृश्यत्व अदर्शनमात्र के ज्ञान से क्रिया की सफलता और नास्तिक्य का निवारण होता है। ३६

तेरह श्लोकः—बाह्य आन्तर प्रमेय प्रमाण प्रमातृत्व चित्सद्‌वृत्ति काथ-वेतृत्व के अभाव से अद्वयत्व की प्राप्ति और जप के श्रवण से ज्ञानाभिमान की सम्पत्ति होती है। ३७

चौदह श्लोकः—सङ्ग में भी असङ्ग का फल होता है। ४०

पन्द्रह श्लोकः—शीघ्र अधिक जप से माया पर विजय होती है। ४२

सोलह श्लोकः—समीचीन ज्ञान के लिए ही वाक्य का प्रयोग मौन का फल है। ४६

सतरह श्लोकः—विपर्यय और अववाद के नाश के लिए सन्मात्र और चिन्मात्र ही सब कुछ है इस भावना की निर्वाधता होती है। ४७

अठारह श्लोकः—सर्वातीत ब्रह्म का 'त्र्यक्षर ॐ रूप से वाचक है' इस तत्त्व ज्ञान से वेदादि सभी जपों के फल की प्राप्ति होती है। ५०

उन्नीस श्लोकः—प्रणव के तीन अवयवों के हटने से निर्वाण प्रत्ययबोध होने पर शान्ति होती है। ५२

बीस श्लोकः—धर्म के प्रतिपादन से धर्म का फल होता है। ५५

एक्कीस श्लोकः—निरपेक्ष क्षमाशीलको सर्वत्र भगवान् के नाम के अनुवाद स्मरण और प्रेम से अनन्त फल की प्राप्ति होती है और सभी प्रायश्चित्त होते हैं। ७१

बाइस श्लोकः—द्रोह आदि की निवारिका भक्ति के आश्रय से सभी इन्द्रियाँ पाप-शून्य होती हैं। ७०

तेइस श्लोकः—निःसङ्गत्व निष्कामत्व आत्म शुद्धि की समीचीन साधनता एवम् अतिशय पवित्रता शिष्टत्व के अनुष्ठान से श्रवण और जप से अपराध का नाश होता है। ७२

चौबीस श्लोकः—देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण इन तीन ऋणों से मुक्ति सभी कामनाओं की प्राप्ति क्योंकि 'ऐश्वर्य की कामना से ब्रह्म-निष्ठ हो उपासना करे' यह श्रुति में कहा गया है और अनन्य भावात्मक प्रेम से श्लोकों में कथित प्रकार से उपासना करने वालों को नमस्कार करने से ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। ७४

पचीस श्लोकः—मुक्ति के प्रतिबन्ध का नाश और रहस्य के श्रवण का फल। ७६

छब्बीस श्लोकः—अन्त में हरि स्मरण रूप कृति का सम्पादन विशिष्ट हरिका प्रेम पूर्वक स्मरण से पास निर्लेयता, निरतिशय समी अनष्ट पुरुषार्थों की प्राप्ति। ७७

—०:०—

संस्कृते विषय-सूची

प्रथम श्लोके—गुणाऽगुणस्वरूपं स्तुत्वा जपश्रवणाभ्यां सुखी भवेत् ।

गुणागुणस्वरूप की स्तुतिकर जप और श्रवण के द्वारा सुख की प्राप्ति करे । ४

द्वितीये—हंसमन्त्रसद्गुरुनाम्नो निरुक्तज्ञानात्सर्वमन्त्रजपाधिकारित्वम् ।

हंसमन्त्र सद्गुरु के नाम पूर्वोक्त ज्ञान से सभी मन्त्रों के जप का अधिकारित्व का प्रतिपादन । १०

श्लोकद्वयेनेदम्—गुरुञ्च स्तुत्वा तृतीत-चतुर्थाभ्यां शिष्यस्य प्रश्नत्रयम् ।

ईश्वर और गुरु की स्तुतिकर तृतीय श्लोक और चतुर्थ श्लोक से शिष्य के द्वारा तीन प्रश्न १३-१५

पञ्चमे—काथशब्दमहावाक्यार्थव्याख्यानेन वेद्यफलम् ।

काथ शब्द के महावाक्यार्थ के व्याख्यान से वेद्य फल की प्राप्ति । १७

षष्ठे—काथयोः कायी काय इति संज्ञयोक्तेः आरोग्यम् ।

काथों को कायी और काय की संज्ञा कहने से आरोग्य की प्राप्ति । २१

सप्तमे—महावाक्यविचारेण लक्ष्यैक्यबोधात्सद्यो मोक्षः ।

महावाक्य के विचार से लक्ष्य की एकता का ज्ञान होने से सद्यः मोक्ष की प्राप्ति होती है । २३

अष्टमे—लोकाऽलोकशीतोष्णलयबोधे शीतोष्णादितोऽप्रतिबन्धः सद्भाविकगुर्वनुगृहीतस्य

लोक अलोक शीत उष्ण और लय के बोध से सद्भाव सम्पन्न गुरु से अनुगृहीत को शीत और उष्ण से प्रतिबन्ध नहीं होता है। २५

नवमे—पञ्चविंशचतुर्विंशकूटस्थाऽव्यक्तबोधे तत्त्वबोधेनोपाधिद्वयं निरस्य षड्विंशैक्यबोधेन विक्षेपशमः।

चौबीस और पचीस कूटस्थ का अव्यक्त बोध होने से उपाधिद्वय की निवृत्ति होकर छब्बीस के साथ एकता के ज्ञान से विक्षेप का शमन होता है। २७

दशमे—त्रिपुटीं निरस्य सत्संवित्या योगानुभवाद्योगपुष्टिः।

त्रिपुटी का निवारण कर सत्संवित्ति से योग के अनुभव से योग की पुष्टि होती है। ३०

एकादशे—सकार्याऽज्ञानाहम्भावनिरासाज्ज्ञानम्।

सकार्य अज्ञान के अहङ्कार भाव के निवारण से ज्ञान की प्राप्ति होती है। ३३

द्वादशे—व्यक्तदृश्यत्वादर्शनमात्रबोधात् क्रियासाफल्यमनास्तिक्यश्च

व्यक्तदृश्यत्व अदर्शनमात्र के ज्ञान से क्रिया की सफलता और नास्तिक्य का निवारण होता है। ३६

त्रयोदशे—बाह्यान्तरप्रमेयप्रमाणप्रमातृत्वचित्सद्वृत्तिकाथवेत्तृत्वविरहादद्वयतावाप्तिः जपश्रवणात् ज्ञानाभिमाननिवृत्तिश्च।

बाह्य आन्तर प्रमेय प्रमाण प्रमातृत्व चित्सद्वृत्ति काथवेतृत्व के अभाव से अद्वयत्व की प्राप्ति और जप के श्रवण से ज्ञानाभिमान की सम्पत्ति होती है। ३७

चतुर्दशे—सङ्गेऽप्यसङ्गफलम्।

सङ्ग में भी असङ्ग का फल होता है। ४०

पंचदशे—मायाजयः झटिति फ्ललवेन सह जपेन।

शीघ्र अधिक जप से माया पर विजय होती है। ४२

षोडशे—सद्बोधार्थं वाक्यप्रवृत्तिरिति मौनफलम्।

समीचीन ज्ञान के लिए ही वाक्य का प्रयोग मौन का फल है। ४६

सप्तदशे—विपर्ययाऽपवादक्षयार्थं सन्मात्रं चिन्मात्रमिदमिति भावनाया निर्वाधता।

विपर्यय और अपवाद के नाश के लिए सन्मात्र और चिन्मात्र ही सब कुछ है इस भावना की निर्वाधता होती है। ४७

अष्टादशे—सर्वातीतब्रह्मणः 'त्र्यक्षरो मौनेन वाचक' इति तत्त्व-ज्ञानात् वेदादिसर्वजपफलम्।

सर्वातीत ब्रह्म का 'त्र्यक्षर ॐ रूप से वाचक है' इस तत्त्व ज्ञान से वेदादि सभी जपों के फल की प्राप्ति होती है। ५०

एकोनविंशे—प्रणवाऽवयवत्रैगुण्यनिरासात् निर्वाणप्रत्ययबोधे शान्तिः।

प्रणव के तीन अवयवों के हटने से निर्वाण प्रत्ययबोध होने पर शान्ति होती है। ५२

विंशतितमे—धर्मप्रतिपादनाद्धर्मफलम्।

धर्म के प्रतिपादन से धर्म का फल होता है। ५५

एकविंशे—निरपेक्षक्षमावतां सर्वत्र भगवन्नामानुवादस्मरणप्रेम्णाऽनन्तफलं सर्वप्रायश्चित्तञ्च।

निरपेक्ष क्षमाशीलको सर्वत्र भगवान् के नाम के अनुवाद स्मरण और प्रेम से अनन्त फल की प्राप्ति होती है और सभी प्रायश्चित्त होते हैं। ६१

द्वाविंशे—द्रोहादिनिष्पापभक्तिश्रयणात् सर्वेन्द्रियनिष्पापत्वम्।

द्रोह आदि की निवारिका भक्ति के आश्रय से सभी इन्द्रियाँ पाप-शून्य होती हैं। ७०

त्रयोविंशे—निःसङ्गत्वनिष्कामत्वाऽत्मशुद्धित्वानां सुसाधनमुक्तम्। अतिशुचित्वं शिष्टत्वञ्चाऽर्थानुष्ठानात् श्रवणजपाभ्यामपराधक्षयश्च।

निःसङ्गत्व निष्कामत्व आत्म-शुद्धि की समीचीन साधनता एवम् अतिशय पवित्रता शिष्टत्व के अनुष्ठान से श्रवण और जप से अपराध का नाश होता है। ७२

चतुर्विंशे—ऋणत्रयमोचनं सर्वकामाऽवाप्तिः। "भूतिकामो ब्रह्मनिष्ठमुपासीते"ति श्रुतेः। अनन्यभावप्रेम्णा श्लोकोक्तानामुपासकानां नमस्काराच्च भूतिः।

देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण इन तीन ऋणों से मुक्ति सभी कामनाओं की प्राप्ति क्योंकि 'ऐश्वर्य की कामना से ब्रह्म-निष्ठ हो उपासना करे' यह श्रुति में कहा गया है और अनन्य भावात्मक प्रेम से श्लोकों में कथित प्रकार से उपासना करने वालों को नमस्कार करने से ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। ७४

पञ्चविंशे—मुक्तौ प्रतिबन्धनाशः रहस्यश्रवणफलञ्च।

मुक्ति के प्रतिबन्ध का नाश और रहस्य के श्रवण का फल। ७६

षड्विंशे—पापनिर्लेपता निरतिशयसर्वपुरुषार्थफलान्यनन्तान्यन्ते हरिस्मृतिश्च कृतिकारयितृताविशिष्टहरिप्रेम्णा स्मरणात्

अन्त में हरि स्मरण रूप कृति का सम्पादन विशिष्ट हरि का प्रेम पूर्वक स्मरण से पाप निर्लेयता, निरतिशय समी अविशिष्ट पुरुषार्थों की प्राप्ति। ७७

श्रीगणेशाय नमः

काथबोधः

डॉ. महाप्रभुलालगोस्वामिकृतभाषानुवादेन सहितः

अधिदैवाधिभूताय आत्मने सर्वमूर्त्तये ।
सर्वातीतप्रकाशाय चिन्मात्रार्काय ते नमः ॥ १ ॥

भर्गध्याने भर्गोस्मि सवपापातिगो ह्यहम् ।
विवृणोमि गुरून्नत्वा सन्तोषानन्दवाग्भवम् ॥ २ ॥

सखा कश्चन सन्तोषं काथं वेत्सीति चाब्रबीत् ।
हासार्थं तेन खेदेन प्रपन्नशरणं गुरुम् ॥ ३ ॥

सभी की अपेक्षा उत्कृष्ट दीप्ति सम्पन्न, सकल मूर्तिस्वरूप, अधिदैव एवं अधिभूतरूप, चिद्रूपात्मकप्रकाश स्वरूप अर्थात् अखण्ड आलोक स्वरूप आत्मा तुम को नमस्कार है ॥ १ ॥

तेज के ध्यान अर्थात् उसके चिन्तन से तेज स्वरूप हूँ, यतः सभी पापों का अतिक्रमण करने वाला मैं हूँ सन्तोष आनन्द वाक् अर्थात् नादसम्भूत गुरुओंको नमस्कार कर, इसकी व्याख्या प्रस्तुत कर रहा हूँ ॥ २ ॥

किसी मित्र ने प्रपन्नों के लिए एक मात्र आश्रय सन्तोष नामक गुरु को परिहास के लिए काथ को जानते हैं--उस ने यह खिन्नता= म्लानता के साथ कहा ॥ ३ ॥

सन्तोष उवाच—

काथं वेत्सीति मामाह मतितां[१](?)वद मेऽच्युत ! ।

त्रिमूर्त्तिस्तमुवाचेदं काथं वेत्तासि नान्यथा ॥ ४ ॥

तन्मुखाच्छ्लोकषड्विंशैः तं च बोधितवान्प्रभुः ।

तं च खेदान्मोचयित्वा विद्यया काथसंज्ञया ॥ ५ ॥

क्रोधघ्ना काथविद्येयं गीतान्तर्यामिणात्मना ।

दत्तात्रयेण तद्वक्त्रादतो व्याक्रियते मया ॥ ६ ॥

गङ्गयाऽन्योदकमिव पवित्रीक्रियते हि वाक् ।

तयोक्तशब्दरत्नौघैः प्रीयन्तां सर्वचक्षुषः ॥ ७ ॥

केयं काथविद्येति चेदाह–कैधातोः कायतीति कास्त-

सन्तोष ने कहा—

हे अच्युत ? विकार शून्य कूटस्थ ? काथ को जानते हो, उस ज्ञान को कहो, यह जो तुमने कहा उसको त्रिमूर्ति अर्थात् दत्तात्रेय ने काथ को कहा है, वही उसका ज्ञाता है, अन्यथा तुम नहीं समझ सकते हो ॥ ४ ॥

प्रभु ने उन के मुख से छब्बीस श्लोकों से काथ को वताया और काथ के मत के ज्ञान से दुःख = खेद से मुक्त किया ॥ ५ ॥

क्रोध को नाश करने वाली यह काथ विद्या अन्तर्यामी आत्मभूत दत्तात्रेय ने स्वमुख से कहा है, अतः इसका व्याख्यान मैं कर रहा हूँ ॥ ६ ॥

जैसे गङ्गा अन्य जल को पवित्र करती है, वैसे ही वाणी उन के द्वारा कथित शब्द रत्नों से सभी प्राणियों को प्रसन्न करे ॥ ७ ॥

यह कौन सी काथविद्या है ? (अर्थात् यह कुछ भी नहीं है) अतः, इस काथविद्या का निरूपण किया जा रहा है। कै धातु से

---

१. मतिमान् इति भवितुमर्हति ।

दन्वयार्थं ईश्वरो वेदजनकत्वात्। व्यथधातोः व्यथतीति यस्त्वम्पदार्थं उभयशवलितप्रातिभासिकख्यातित्वाज्जीवः। काथयोरीशजीवयोः स्वरूपं बुध्यते यत्रासौ काथबोधः, तद्वेदनाद्विद्या वा। अत एव स्वरूपग्रन्थयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः। किं प्रयोजनमिति चेदाह–तच्छ्रवणमनननिदिध्यासनजन्यतत्त्वज्ञानेन कैवल्यादानन्दावाप्तिः प्रयोजनम्। तत्र शमादिसाधनचतुष्टयेन पूर्वपूर्वपुण्येन च शुद्धचित्तस्तज्जिज्ञासुरधिकारी।

'काः' शब्द निष्पन्न होता है, शब्द का जो उच्चारण करता है वही का है। क्योंकि 'कायति इति' इस विग्रह में कर्ता में क्विप् प्रत्यय कर निष्पन्न काः का अर्थ ईश्वर होता है, वेदरूपी शब्द का उच्चारण करने वाला ईश्वर ही है, अतः वेदरूपी शब्द का जनक होने से काः 'ईश्वर' है क्योंकि ईश्वर में योग व्युत्पत्ति से लब्ध अर्थ का अन्वय होता है। व्यथ धातु से 'थः' निष्पन्न होता है, जो कष्ट का अनुभव करता है, अतः, 'त्वं' = पदार्थ अर्थात् जीव ही 'थः' है।

मायाशवलित प्रातिभासिक ज्ञान से जीव होता है। काथ अर्थात् जीव और ईश्वर को स्वरूप को जिससे जाना जाता है, वह काथबोध है या काथ के ज्ञान कराने से यह विद्या है।

अतः, काथ और इस ग्रन्थ के साथ प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है, काथ प्रतिपाद्य है और यह ग्रन्थ उसका प्रतिपादक है। काथबोध का क्या प्रयोजन है ? (क्योंकि प्रयोजन के ज्ञान के बिना किसी भी शास्त्र के अध्ययन में या किसी विषय को जानने के लिये मूर्खों की भी प्रवृत्ति नहीं होती है। "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते" यह एक सत्य तथा प्रसिद्ध तथ्य है) काथ के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से उत्पन्न तत्त्वज्ञान से कैवल्य-प्राप्ति पूर्वक आनन्द की प्राप्ति ही प्रयोजन है। शमदमतितिक्षा उपरति आदि प्रदर्शित चार साधनों की प्राप्ति से एवं पूर्व जन्मार्जित पुण्य के संभार से अन्तःकरण की शुद्धि होने से काथबोध के ज्ञान की इच्छा रखने

काथबोधं वक्ष्यामीति प्रतिज्ञाय परमकारुणिको भगवान् शिष्यार्थं तस्यैव स्तुत्या प्रथमश्लोकद्वयेन वस्तुनिर्देशात्मकं मङ्गलमाचरतिः—वागर्थात्मेति ।

वागर्थाऽत्मा सर्वभूतान्तरात्मा
वक्ता श्रोता विश्वरूपश्चिदात्मा ।
सर्वावासश्चैको नित्योपलब्धि-
र्यः सन्तोषानन्ददस्तं भजेऽहम् ॥ १ ॥

अहं तं भजे, अहं शरीरद्वयविलक्षणः शुद्धस्त्वम्पदार्थः भजनकर्त्ता । कृतिरहितोऽपि कर्त्तेत्युपलक्षणं त्वम्पदलक्ष्यत्वात् । तं शुद्धतत्पदार्थममायिनं परमात्मानं

वाला अधिकारी है। काथबोध का प्रतिपादन करूँगा यह प्रतिज्ञा कर परमकारुणिक भगवान् शिष्यों के लिए उसी काथ की स्तुति में वस्तु का निर्देश करने वाले दो पद्यों से मङ्गलाचरण कर रहे हैं :—वागर्थात्मेति ।

वाणी और अर्थस्वरूप सभी जीवों का अन्तरात्मा, वक्ता, श्रोता, विश्वरूप, चिदात्मक सभी का आधार, नित्यज्ञानस्वरूप, सजातीय-विजातीय द्वितीय भेद से रहित एक जो सन्तोषानन्द है—उसकी अपने से अभिन्न रूप में चिन्तन करता हूँ ॥ १ ॥

मैं उसकी आराधना करता हूँ, जो सूक्ष्म और स्थूल इन दो शरीरों से विलक्षण शुद्ध त्वं पदार्थ भजन करने वाला है। यद्यपि कृति = इच्छा से उत्पन्न व्यापार को सम्पन्न करने वाला ही कर्त्ता होता है, किन्तु कृति से शून्य भी त्वं को कर्त्ता मानना 'उपलक्षण के रूप में कहा गया है, क्योंकि, वह त्वं पद का लक्ष्य होता है, 'तं' से शुद्ध तत्पदार्थ माया शून्य परमात्मा कहा गया है। वही भजन के योग्य है, अतः, उसका भजन करता हूँ, अभेद रूप में अध्यवसाय करता हूँ।

भजनीयं भजे। भजनं किमिति चेदाह ? तादात्म्यज्ञानं तेनेत्यर्थः । ननु ज्ञानमिदं भजनं कथमिति चेदाह, सप्रेमज्ञानं ज्ञानसाध्यत्वाद्भजनमिति भगवन्मतम् । "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "तज्जलानिति शान्त उपासीते"ति श्रुतेः । अस्यार्थः-हे मुमुक्षो ! युष्मत्प्रत्ययवाच्यमिदं सर्वं वाचारम्भणविकारमात्रत्वाद् ब्रह्मैव, कस्मात्समुद्रवीचीन्यायेन 'तज्जलान्' तस्मिन्जायत इति तज्जं लीयत इति लम् अन्वितमिति अन् इति ज्ञानेनाद्वितीयत्वेन शान्त उप समीपे तद्रूपत्वेन आसीतेत्यर्थः । ननु "यजमानः प्रस्तरः" "आदित्यो यूप" इति वदस्तु ? इति न, खल्विति निश्चये-

---

भजन का क्या अर्थ है ? इसकी जिज्ञासा के समाधान में कहा गया है भजन करने योग्य के साथ तादात्म्य = अभेद-ज्ञान की प्राप्ति के रूप में--यह अर्थ विवक्षित है ।

यह भजन ज्ञानात्मक है--यह कैसे जानते हैं ? इसके उत्तर में कहा है सप्रेम-ज्ञान ज्ञानसाध्य होने से भजन ज्ञान है--यह भगवान् का मत है । श्रुति में कहा गया है--"यह सम्पूर्ण चर अचर विश्व ब्रह्म स्वरूप है" । "उससे उत्पन्न, उसमें लीन, उससे अनुप्राणित की शान्त हो उपासना करे" इन श्रुतियों से यही अर्थ अवगत होता है । इसका अर्थः--हे मोक्ष के अभिलाषिगण ? युष्मत् ज्ञान का वाच्य सभी पदार्थ वाणी का आरम्भण और विकार मात्र होने से ब्रह्म ही है । इस विकार की ब्रह्मरूपता कैसे सम्भव है ? जैसे समुद्र और उसकी तरङ्गें उससे भिन्न नहीं है, समुद्र तरङ्ग समुद्र ही है, उसी प्रकार उसमें उत्पन्न होने से तज्ज है, उसमें लीन होने से ल और उसमें अन्वित होने से अन् है, अतः इस अद्वितीयत्व के ज्ञान से शान्त उप = समीप में अर्थात् तद्रूपता की प्राप्ति करना था--अर्थात् इस श्रुति का यह अर्थ है ।

यदि यह कहा जाय कि ये श्रुतियाँ "यजमान पत्थर है", "आदित्य यूप है" इन श्रुतियों के समान हो अर्थवादको कहने वाली

नेत्युक्तेः । "तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते" "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः" इति भगवदुक्तेः 'अहं स चे' त्यभेदभजनस्योक्तत्वाच्च, "ज्ञानी त्वात्मैव मे मत"मित्युक्तेश्च । किंलक्षणस्तत्पदार्थः शबलः शुद्धश्च । तत्र तावत् स्तुत्या सप्तपदैर्लक्षणमाह "जन्माद्यस्य यतः" ब्र. सू. १।१।२। वागर्थात्मकस्यास्य जन्मस्थितिलयाः यतः स वागर्थात्मा त्रिस्थलात्मा । परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति भेदात्मिका ध्वनिनादवर्णोच्चारणहेत्वात्मिका सर्वाभिधानलक्षणा वाक् । तत्प्रतिपाद्यसर्वाभिधेयात्मको ह्यर्थः । वाक् च अर्थश्च वागर्थौ, ब्रह्मविवर्त्तावध्यस्तौ,

---

है ? यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, इस श्रुति में निश्चय अर्थ को कहने वाले 'खलु' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः जिस किसी रूप में यह श्रुतिवाक्य नहीं कहा गया है। इसीलिए गीता में भगवान् ने कहा है—"उनमें नित्ययुक्त ज्ञानी, एक भक्ति सम्पन्न श्रेष्ठ है", "ज्ञानी के लिए मैं अतिशय प्रिय हूँ और वह मेरा प्रिय है"। इसीलिए इस वाक्य में अहं (मैं) और स (वह) इस प्रकारके पदों के प्रयोग से भजन में अभेद कहा गया है। इसी प्रकार ज्ञानी मेरी आत्मा ही है—यह स्थिर है—यह भी कहा गया है। 'तत्' पदार्थ का क्या स्वरूप है—वह शबल (माया युक्त) या शुद्ध है ? स्तुति के व्याज से सात पदों से लक्षण कहा गया है—"जन्माद्यस्य यतः" जिससे सभी की उत्पत्ति स्थिति और लय है। (ब्र. सू. १।१।२) (वाणी) नाम और रूप (अर्थ) स्वरूप सभी पदार्थो का जन्म स्थिति और लय जिससे है, वह वागर्थात्मा त्रिस्थलात्मा है। अर्थात् परा, पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी—इन भेदों के रूप में ध्वनि नाद वर्णो के उच्चारण हेतु स्वरूप सभी के अभिधान स्वरूप वाक् है। क्योंकि, उसका प्रतिपाद्य सभी अभिधेय = वाच्य रूप अर्थ हैं। बाणी और अर्थ **वागर्थौ** द्वन्द्व समास निष्पन्न पद है। ब्रह्म विवर्त

तयोः सातत्येनाततीत्यात्मा । यथा सूर्यतेजसोष्मा जलस्य, तत्त्वेनात्माधिष्ठानत्वात् । तस्मात् स एव वागर्थात्मकानां सर्वभूतानामन्तरात्मा । पृथिव्यादिमहाभूतानि च तद्विकृतयश्चतुर्विधभूतग्रामास्तेषां सर्वेषां भूतानामन्तरात्मत्वात्, तत्रस्थः वक्ता चतुर्विधवाक्प्रेरकः "येन वाचं व्याकरोती"ति श्रुतेः । असम्यग्वक्तृत्वाज्जीवो न श्रोता, "नान्योऽतोऽस्ति श्रोते"ति बृहदारण्यकश्रुत्युक्तत्वात्स एव श्रोता "सर्वतः श्रुतिमल्लोके "इति भगवदुक्तेश्च । अत एव बिश्वरूपः, विश्वस्मिन् रूपं यस्यासौ, अस्ति भाति प्रियत्वात्, "यस्य भासा सर्वमिदं विभाती"ति श्रुतेश्च । अस्य सर्वस्यावासः क इति चेत् ?

अध्यस्त है, इनमें जो निरन्तर गमन अर्थात् अन्वित है--वह आत्मा है। जैसे सूर्य के तेज से जल का ताप, तत्त्व के रूप में आत्मा अधिष्ठानभूत है। अतः वही बाणी और अर्थ अर्थात् नाम-रूपात्मक जगत् अर्थात् प्राणिमात्र का अन्तरात्मा है। पृथिवी आदि पाँच महाभूत और उनकी विकृतियों (विकार) चार प्रकार के भूतग्राम उन सभी भूतों का वह अन्तरात्मा होने से उसमें रहने वाली चार प्रकार की पूर्वोक्त वाणी का प्रेरक है। इसीलिए वाणी को व्याकृत अर्थात् प्रेरण करती है--यह श्रुति में कहा गया है। असमीचीन वक्ता होने से जीव श्रोता नहीं है। इसीलिए-इससे अतिरिक्त कोई श्रोता नहीं है--यह बृहदारण्य उपनिषद् में कहा गया है, अतः वही श्रोता है। और भगवान् ने भी गीता में इसी आशय से कहा है--सभी प्रकार से वही लोक में श्रुतिमान् है। इसीलिए विश्वस्वरूप है--विश्व में (परिव्याप्त) रूप है जिसका वह, क्योंकि सत्ता (अस्ति) भाति = भान = अर्थात् प्रत्यक्ष (भाति) आनन्दस्वरूप होने से। श्रुति में भी कहा गया है जिसके प्रकाश से सभी वस्तु भासमान हो रही है।

इन सभी वस्तुओं का आवास = अधिष्ठान कौन है ? युष्मत्

सर्वावासः युष्मत्प्रत्ययवाच्यस्य सर्वस्य बाह्याभ्यन्तरावासः आश्रय इत्यर्थः। एवं तटस्थलक्षणं मायाशवलितमीश्वरं स्तुत्वा अतस्तन्निरसनेन स्वरूपलक्षणमात्मानमीश्वरं स्तौति। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमि"ति छान्दोग्ये। तथा चिदेव सत्यमिति चिदात्मा चित्स्वरूपः कार्यकारणस्वरूपः जडधर्मात्यन्ताभावात्। अजा इतिबृहदारण्यकोक्तत्वात्।

ननु जडाभावाश्रयत्वाज्जडाभाववदिति सधर्मकं

शब्द की प्रतीति का विषय अर्थात् युष्मत् शब्द का वाच्य सभी बाह्य और आभ्यन्तर का आवास अर्थात् आश्रय--यह अर्थ है।

इस तटस्थलक्षण के लक्ष्य मायाशवलित ईश्वर की स्तुति कर उसका निराकरण कर स्वरूप लक्षण के लक्ष्य ईश्वर स्वरूप आत्मा की स्तुति की जा रही है। वाणी से अर्थात् नाम के रूप में आरब्ध ही विकार है उसके मूल के रूप में अन्वित मिट्टी ही सत्य है। (अर्थात् मिट्टी से उत्पन्न सभी घट, आदि पदार्थों का नाम के कारण भेद होने पर भी मिट्टी ही सर्वत्र अनुस्यूत रूप में सत्य है) यह छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है। चित् ही सत्य है, अतः चिदात्मा चित्स्वरूप है, क्योंकि कार्य कारण स्वरूप होता है, यतः जड धर्मों का आत्यन्तिक अभाव है, इसीलिए बृहदारण्यक में अज्ञ यह कहा गया है। जड के अभाव का आश्रय होने से जडाभाववान् पदार्थ है--यह समान धर्म वाले पदार्थ का सूचक है न कि यह एक का परिचायक है, क्योंकि वहाँ धर्मधर्मिभाव सम्बन्ध का राहित्य है, क्योंकि अभाव गुणवान् नहीं होता है, संख्या गुण है, अतः संख्यारहित अभाव में संख्या नहीं रह सकती है। द्वितीय संख्या रूप गुण और द्रव्य की व्यावृत्ति से एक शब्द की प्रवृत्ति है। शक्ति के ग्रहण से एक द्रव्य में शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती है। क्योंकि, "यह आत्मा प्रवचन शब्द से ज्ञात नहीं होता है। यह श्रुति में कहा गया है।

यदि यह कह जाय कि आत्मा को धर्म रहित मानने पर वह

स्यान्न त्वेकम्, धर्मधर्मिभावसम्बन्धशून्यत्वात्, न त्वभावो गुणवान् असंख्यस्यैक इति द्वितीयगुणद्रव्य-व्यावृत्त्या शब्दप्रवृत्तिः, न तु शक्तिग्रहेण। "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य" इति श्रुतेः। निर्धर्मकं चेत् शून्यं स्यात्, "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे" तिश्रुतेः। सति बोधे शून्याप्रतीतेः। अनित्यं शून्यम्, तन्न, अत एवोपलब्धिः। "यत्साक्षादपरोक्षादि" तिश्रुतेः। सर्वकाले कालातीते चोप समीपे लब्धिर्न तूभयस्याप्रमेयस्याऽसौ, अन्येषां देशकालौ ह्यावृतत्वात्तथा न, एवं यः परमात्मा सन्तोषानन्दः सम्यक्तोषः, दुःखाज्ञानप्रतियोग्यानन्दमात्रज्ञानवृत्तिकस्तस्य तद्वृत्तित्यागेनाऽनन्दमात्मानं ददात्यसौ। तं परमेश्वरं भजे। "वासुदेवः सर्वमिति" भगवदुक्तनिदिध्यासनसाक्षात्का-

---

शून्य रहेगा, सत्य, ज्ञान, और अनन्त स्वरूप है--यहाँ श्रुति में कहा गया है। इसके द्वारा वस्तु का बोध होने पर शून्य की प्रतीति नहीं हो सकती है।

यदि यह कहा जाय शून्य अर्थात् अनित्य है, यह नहीं कहा जा सकता है। जिसके साक्षात्कार से अपरोक्ष ब्रह्म की उपलब्धि होती है--इस श्रुति के आधार पर उसकी उपलब्धि कही गई है।

सभी समय में और काल से परे उप अर्थात् समीप में उपलब्धि होने से दोनों अप्रमेयों का वह विषय नहीं है। अन्य पदार्थ देश और काल इन दो से आवृत रहते हैं, किन्तु देश-कालातीत होने से--यह वैसा नहीं है। इस प्रकार जो परमात्मा सन्तोषानन्द स्वरूप अर्थात् सम्यक् तोष और दुःख के अज्ञान का प्रतियोगी आनन्दमात्र ज्ञान वृत्तिक है और उस वृत्ति के परित्याग से वह आत्मानन्द प्रदान करता है--उस परमेश्वर का आत्मा के भेद रूप से चिन्तन करता हूँ। वासुदेव ही सम्पूर्ण विश्व है इस भगवान् के कथन

रवृत्त्याऽभेदभजनेन भजनकृतित्यागात्मकेन, न तु भक्त-भजनभजनीयवृत्तिभेदेन उदरमन्तरं कुरुते, "अथ तस्य भयं भवती"तिश्रुतिविरोधात् ॥ १ ॥

नत्वेति—

नत्वा हंसं सद्गुरुं तं परेशं
शुद्धं व्यक्तं भार्गवारण्यवासम् ।
ईशादीनामष्टकं पूर्वजानां
वक्ष्याम्येनं सत्त्वदं काथबोधम् ॥ २ ॥

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरा'विति श्रुतेश्च पूर्वश्लोकोक्तमेव सद्गुरुत्वेनाऽस्मिन् श्लोके स्तौति । हंसम् आत्यन्तिकप्रलयकर्तृत्वादज्ञानहननात्-हः, तं ज्ञानं तत्, सः सदात्मा गुरुः स्वभक्ताय ददातीति हंस

के अनुसार निदिध्यासन अर्थात् साक्षात्कारात्मक वृत्ति से अभेद रूप में भजन करने पर भजन व्यापार के परित्याग से भक्त, भजन और भजनीय = जिसका भजन किया जा रहा है इनमें वृत्ति के भेद न होने से भेद पूर्वक उपासना करने पर जो ज्ञान में भेद करता है, उसको भय होता है इन श्रुतियों का विरोध होगा । अतः आत्मा का अभेद रूप से ही ध्यान विहित है ॥ १ ॥

उस परमेश्वर शुद्ध व्यक्त भृगु सम्बन्धी वन में उपदेशक के रूप में वास करनेवाले, पूर्ववर्ती इश हरि आदि आठ, हंस स्वरूप सद्गुरु को नमस्कार कर इस सत्त्व प्रद काथबोध को कहूँगा ॥ २ ॥

जिसकी देवता में परम भक्ति एवं जैसी देवता में वैसी ही गुरु में इस श्रुति के अनुसार पूर्व श्लोक में सद्गुरु के रूप में कथित को ही इस श्लोक में भी कर रहे हैं । 'हंसम्' आत्यन्तिक प्रलय कर्ता होने से अज्ञान के नाशक होने से 'हः' यह ज्ञान 'तत्' है, वह सदात्मा गुरु अपने भक्त के लिए देता है—यह हंस इस अध्याहार से समझना

इत्याध्याहारेण बोध्यम्। तम्, आत्मानात्मविभागे यथा क्षीरनीरविभागे हंस इव हंसस्तं सद्गुरुं सन्मात्रं ब्रह्म तद्विषये गुम् अज्ञानावरणम्, सांख्ये तत्त्वानां गतिः प्रधानमित्युक्तम्, गम्लृगताविति धात्वर्थात्। तद्गुं रुणद्धीत्यसौ सद्गुरुः।

'गुकारस्त्वन्धकारः स्याद्रुकारस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधत्वाद्गुरुरित्यभिधीयते' ॥ इतिस्कान्दे।

परेशं पराया उत्कृष्टविद्यायाः ईशस्तम् अध्यात्मविद्यानिधानमिति भगवदुक्तोत्कृष्टत्वात्। पूर्वोक्तं शुद्धं शवलत्वशून्यम्, तदेव गुरुरूपेण व्यक्तम् अनुग्रहार्थं व्यक्तमिव व्यक्तम् ईशदत्तादिव्यक्तित्वात्। भार्गवारण्यवासं 'भृगुर्वै वारुणिः' 'वरुणं पितरमुपससारे'ति।

चाहिए; उसको आत्मा और अनात्मा के विभाजन में जैसे दुग्ध और जल के विभाग में हंस है; उसी के समान हंस स्वरूप सद्गुरु अर्थात् सत्स्वरूप गुरु को, अर्थात् ब्रह्म एवं उसके विषय में "गु" अज्ञान रूपी आवरण को सांख्य में तत्वों की गति प्रधान (प्रकृति) यह कही गई है, क्योंकि गति अर्थ को कहने वाले शब्द से गम्लृ धातु से यह शब्द निष्पन्न है और गम्लृ धातु का अर्थ गति होता है। उस प्रधान (प्रकृति) की ओर गति को जो रोकता है, वह सद्गुरु है। गुकार अन्धकार है और रुकार उसका निरोधक है, अज्ञान या अन्धकार का निरोधक होने से 'गुरु' कहा जाता है—ऐसा स्कन्द पुराण में कहा गया है। 'परेशं' परा= उत्कृष्ट विद्या का ईश अध्यात्म विद्या का निधान=आश्रय—यही भगवान् का उत्कृष्टत्व गीता में कहा गया है। पूर्वोक्त ही शुद्ध अर्थात् उपाधि शून्यता यहाँ विवक्षित है, वही गुरु के रूप में व्यक्त है, अर्थात् अनुग्रह के लिए व्यक्त के समान व्यक्त है, ईश्वर से प्रदत्त व्यक्तित्व होने से। "भार्गवारण्यवासं" भृगु वारुणि अपने पिता के समीप गया, भृगु से सम्बद्ध भार्गव है अर्थात् भार्गव अरण्य = वन,

भृगोरिदं भार्गवं तदरण्यं तस्मिन्नुपदेष्टृत्वेन वासो यस्य तम्। तस्यैवाष्टमूर्त्तित्वात्, इनेन्द्वात्मखमरुत्तेजस्कम्ववह्निरात्मेशसदछेद्यभैक्ष्यभुक्कन्दसहजज्वालामुखेशहरिपादेति, सूर्याद्यन्तरात्मत्वेनाष्टमूर्त्तिधरः ईशः। दत्तात्रेयस्य मूर्त्त्यष्टकं तेन सह ईशादीनाम् ईशः दत्तः आदिर्येषां तेषां पूर्वजानाम्, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इतिश्रुतेः 'अहमादिश्चेति' भगवदुक्ते पूर्वस्मिन् जाताः, पूर्वस्मिन् भूतादिब्रह्मणि जातबोधत्वात् पूर्वजास्तेषामीशादिति हरिपादानन्दात्मनां गुरूणामष्टकं नत्वा। एनमुल्लिखितं सत्त्वदं सत्त्वम्, आत्मज्ञानवृत्तित्वं यो ददाति तं काथबोधं वक्ष्यामीत्यन्वयः। सहस्रनाम्नि प्रसिद्धम्, नामक इति नाम, य इति प्रातिभासिकत्वं प्रकृतेः प्रकृतित्वम् अनिर्वाच्यायाः, सा सत्ता जीव इति

उस वन में उपदेष्टा के रूप में जिसका निवास है वह व्यक्ति भार्गवारण्यवास है। वही अष्टमूर्त्ति होने से सूर्य, चन्द्र, आत्मा, व्योम, वायु, तेज, पृथिवी, वह्नि, आत्मेश, सद् अच्छेद्य, भैक्ष्यभुक्, कन्द सहज ज्वाला मुखेश, हरिपाद सूर्य आदि अन्तरात्म रूप में आठ मूर्तियों को धारण करनेवाला ईश है। दत्तात्रेय की आठ मूर्तियों के साथ ईश आदि पूर्वजों की अर्थात् ईश = दत्त आदि में हैं; जिनके ऐसे पूर्वजों का——जिससे, ये भूतवर्ग उत्पन्न होते हैं।

इस श्रुति से एवं मैं आदि हूँ; इस भगवान् के कथन से पूर्व में अर्थात् भूत वर्गों की ब्रह्म से उत्पत्ति कही जाने से ईशादि हरिपादानन्द स्वरूप आठ गुरुओं को नमस्कार कर, इस उल्लिखित सत्त्वज्ञान प्रद सत्त्व को आत्मज्ञान वृत्ति का सम्पादन जो करता है, उस काथबोध को कहूँगा। सहस्र नाम में प्रसिद्ध नामक = नाम जो लोक में प्रातिभासिक रूप से है अनिर्वाच्य प्रकृति का प्रकृतित्व वही जीव

भयलक्षणा। 'जीवभूता महावाहो ययेदं धार्यते जगदि'-ति भगवदुक्तेः 'द्वितीयाद्वै भयं भवती'ति श्रुतेश्च। कथयोः कथनं कथा कथायास्तात्पर्यभूतोऽर्थः काथः, तस्य बोधस्तं वक्ष्यामि, इति वेदादिसर्वकथासम्परम्परायास्तत्तात्पर्यत्वात् 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती'तिश्रुतेश्च। इति स्तुत्वा प्रश्नहेतुं व्याकरोति ॥ २ ॥

कश्चिच्छिष्यः सङ्गदोषैर्विमूढः
क्रोधेनाऽसौ तप्तरूपो बभूव।
ऐशात्मा अनीशवत्सोऽपि जातः
स्वात्मत्यागाच्चैत्यसङ्गोन्मुखत्वात् ॥ ३ ॥

कश्चिदिति। सद्गुरोः कश्चिच्छिष्यः, गुरूपदेशोत्पन्नज्ञानोऽपि पुत्रशोकेन वसिष्ठ इव सङ्गदोषैः मानैश्वर्यादि-

---

स्वरूप सत्ता है। हे महावाहो ? जीवभूत हो; जिससे विश्व का धारण किया जाता है। यह भगवान् के कथन के अनुसार द्वितीय से भय होता है; यह श्रुति भी है। कथ अर्थात् ईश्वर और जीव का कथन ही कथा है, कथा का तात्पर्य-विषयीभूत अर्थ काथ है; काथ के बोध को कहूँगा, वेद आदि सभी कथाओं की सम्यक् परम्परा में तात्पर्य होने से सभी वेद जिस स्वरूपों का वर्णन करते हैं—इस श्रुति के अनुसार यह सुनकर प्रश्न के कारण का व्याख्यान किया जा रहा है ॥ २ ॥

कोई शिष्य सङ्ग दोषों से विमूढ़ क्रोध के वशीभूत हो तप्त रूप हुआ, शिव दत्तात्रेय आदि स्वरूप धारी के शिष्यत्व के त्याग से चिद्रूपता से 'उन्मुख होने और अपने स्वरूप का त्याग कर अनीश परतन्त्र जीव रूप हो गया है ॥ ३ ॥

सद्गुरु का कोई शिष्य, गुरु के उपदेश के ज्ञान से सम्पन्न होकर भी पुत्र के शोक से वसिष्ठ के समान सङ्ग दोष से मान ऐश्वर्य

समीचीनमिति वासतात्मकसङ्गस्तज्जन्या दोषाः कामादयस्तैः विमूढः विशिष्टज्ञानोऽपि मूढ इव मूढः, गुरुसेवाऽकरणाच्च। श्रुतिश्च 'ते चैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः' नान्यस्येति। व्यादत्ता सख्युक्ता[1] भग्न(?)कामक्रोधजाता येन तप्तरूपः तप्तलोहघटवद्बाह्याभ्यन्तरो बभूवेत्यर्थः। तन्महत्त्वमाह, ऐशात्मा-ईशः भूतसृष्टिस्थितिलयकृतिविशिष्टः शिवदत्तात्रेयादिकृतविग्रहः तस्य शिष्या ऐशास्तेषां तत्त्वबोध शिष्यत्वत्यागेन यस्मिन्नततीत्यात्मासौ, तेन गतजनित्वादजोऽपि अनीशवत्

आदि की दृढता से वासनात्मक सङ्ग से उत्पन्न कामादि दोषों के विशिष्ट ज्ञान से सम्पन्न होकर भी मूढ़ = मोह सम्पन्न हो जाता है, क्योंकि वह गुरु की सेवा से विमुख है। श्रुति में कहा गया है—देवता और गुरु के प्रति विशिष्ट भक्ति रहने पर ही गुरु के द्वारा उपदिष्ट अर्थों का प्रकाश होता है, अर्थात् ज्ञान प्राप्त होता है। अन्य व्यक्ति को ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है, अर्थात् श्रुत अर्थ का भी गुरु की सेवा के अभाव में ज्ञान नहीं रहता है। विशेष रूप से आदान करने पर भी कथित कामक्रोध की उत्पत्ति होने से शान्त न रह कर तप्त रूप=सन्तप्त होता है। वर्तन किये हुए या घड़े के समान सर्वत्र बाह्य और आभ्यन्तर दोनों तप्तरूप हो जाता है। अर्थात् विषयाग्नि परिव्याप्त हो जाती है—यह अर्थ है। आगे के पदों से इसका महत्त्व कहा जा रहा है :—ऐशात्मा। भूत की सृष्टि, स्थिति और लय व्यापार से विशिष्ट शिव, दत्तात्रेय आदि मूर्त्त शरीर विग्रह के शिष्य ऐश के तत्त्वज्ञान और शिष्यत्व के त्याग देने के बाद भी जिसमें आत्मा का सञ्चरण है, वह प्राप्त की उत्पत्ति से अजन्मा होते हुए भी अनीश = सामर्थ्य हीन के समान परतन्त्र के रूप में स्वामी के

---

१. भुक्त भग्न पु. पाठा।

परतन्त्रवत् भर्त्रालिङ्गनया स्वप्नवैधव्यानुभववज्ञात इत्यर्थः। कस्मादिति, चेत् ? स्वात्मत्यागात् स्वसम्बन्धिरजस्तमसोरत्यन्ताभावसत्त्ववृत्तिकब्रह्मैवाहमित्यनुभवात्मनः अनादरस्त्यागः तस्मात्। अन्यच्च चैत्यसङ्गोन्मुखत्वात्, पुरुषचित्तकल्पितभ्रूशब्दं प्रधानं तस्मिन् तत्त्वानामूर्ध्वत्वावलोकनेनोन्मुखत्वं तस्मात् ॥ ३ ॥

शिष्य उवाच—

बद्ध्वा पाणी तप्तकायो बभाषे
काथावस्थां विश्वविश्रान्तकाले।
क्रोधघ्नाऽस्याः काथविद्या परान्या
शान्तिः काथेत्यादिसर्वं वदस्व ॥ ४ ॥

आलिङ्गन से (अनन्तर) स्वप्न वैधव्य के अनुभव के समान हो जाता है। ऐसा क्यों होता है ? इस जिज्ञासा के समाधान में कहा गया है कि अपने आत्म-स्वरूप का परित्याग करने से ऐसा होता है, क्योंकि अपने सम्बन्धी रजोगुण और तमोगुण का अत्यन्ताभाव रूप सत्त्ववृत्त्यात्मक मैं ब्रह्म ही हूँ, इस आत्म अनुभव का अनादर अर्थात् त्याग से ही ऐसा होता है और दूसरी बात यह है कि चित्त सम्बन्धी सङ्ग से उन्मुख हो जाने से ऐसा होता है। पुरुष चित्त से कम्पित भ्रू शब्द उसमें प्रधान होने से तत्त्वों की ऊर्ध्वत्व के अवलोकन में उन्मुखता हट जाती है, फलतः, निम्नगामिनी दृष्टि हो जाती है ॥ ३ ॥

शिष्य ने कहा :—तप्तकाय ने हाथ जोड़कर गुरु से कहा :—सम्पूर्ण विश्व के अवसान के समय कैसी अनुभूति होती है ? इससे अतिरिक्त जिससे क्रोध ध्वस्त हो जाता है, उस काथविद्या को बताओ ? उपाधियों के शमन से कौन सी आनन्दावाप्ति है ? ये सभी बातें कह गये ॥ ४ ॥

अथ शिष्यःगुरुं प्रश्नत्रयं पृच्छति। वद्ध्वा पाणी, पूर्वोक्तहेतुना तप्तकायः, पाणी वद्ध्वा अञ्जलिं कृत्वा गुरुमिदं बभाषे इत्यर्थः।

भोः स्वामिन्? अथ अनन्तरं दुःखप्रतियोगि अत्यन्तमङ्गलम्। विश्वविश्वान्तकाले यं कला विशतीत्यसौ विश्वः, तस्य शक्तिः प्रकृतिः सा कला साम्यावस्थात्वात्, तयोः परमार्थतोपाधित्यागेनैक्यनिर्वचनम्। तस्मिन् काले का अवस्था? काऽनुभूतिरिति प्रथमः प्रश्नः। कामक्रोधाभावं विनाऽनुभवितुमशक्यावस्थेति चेत्, अस्या अन्या साधनभूता परा क्रोधप्रतियोगित्वपरत्वं यस्यां सा, तस्मात् सा क्रोधघ्ना। समूलं क्रोधं हन्तीति वेदनहेतुत्वाद्विद्या तां वदस्वेति द्वितीयः प्रश्नः। उक्तक्षयफलत्यागहेतुभूताभ्याम्। अथानन्तरम् अन्या पूर्वोक्ताभ्यां

इस पद्य में शिष्य गुरु से तीन प्रश्न पूछ रहा है। पूर्व प्रदर्शित कारणों से तप्तकाय शिष्य ने हाथ जोड़कर अर्थात् अञ्जलि के रूप में हाथ को रख कर गुरु से यह कहा--यह अर्थ है।

हे स्वामिन्? इस के बाद दुःख का प्रतियोगी अर्थात् अत्यन्त मङ्गल सम्पूर्ण विश्व के अन्तकाल में जो अवस्था प्राप्त होती है--वह विश्व है, उस की शक्ति प्रकृति है, वह कला विश्वा कला है, साम्य अवस्थास्वरूप होने से इन दोनों में उपाधि के परित्याग से ऐक्यकी प्राप्ति है। इस समय कौन अवस्था रहती है? कैसी अनुभूति होती है--यह प्रथम प्रश्न है। काम और क्रोध के अभाव के विना अवस्था का अनुभव करना सम्भव नहीं है? इसकी अन्य साधनभूत श्रेष्ठ क्रोध प्रतियोगित्व रूपता उस अवस्था में होती है, अतः वह क्रोधघ्ना अवस्था है। मूल के साथ क्रोध का विनाश करती है, जो ज्ञान साधन होने से विद्या है--उसका निरूपण करें--यह द्वतीय प्रश्न है। उक्त नाम फल और त्याग साधन भूत होने से इस

शान्तिः उपाधिशमनशीलानन्दावाप्तिः का इति तृतीयः प्रश्नः, इत्यादिप्रश्नत्रयानुकल्पं सर्वं वदस्वेत्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीगुरुरुवाच—

काव वै विश्वो यः क्यभावे सेवेद्यः
कस्त्वन्या सा काथशब्देन वाच्या ।
काक्यौ लुप्ते यत्र ते योगिलक्ष्ये
तत्त्वन्त्वेकः काथवेत्ताऽवशिष्टः ॥ ५ ॥

अस्मिन् श्लोके काथपदार्थौ विश्वेत्यभिधानाभ्यां प्रतिपाद्यते तदुपाधिव्यावृत्त्या लक्ष्ययोरैक्यं "त्वमसो"ति प्रबोध्यते । श्रीगुरुर्दत्तः अन्तर्यामी हृदिस्थः सन्तोष-

---

के बाद पूर्वोक्त से अन्य शान्ति उपाधिशमन स्वरूप आनन्द की प्राप्ति कौन है ? यह तृतीय प्रश्न है। इन तीन प्रश्नों के अनुरूप सभी विषयों का निरूपण आप करें ॥ ४ ॥

श्रीगुरु ने कहा--

आत्मा प्रवेश करने से विश्व है, प्रकृति के अभाव में ईश्वर वेद्य रहता है, काथशब्द से वाच्य क्या है जो उससे अन्य है। अविद्या-रोपितजीव और विश्व की निवृत्ति होने पर योगियों का लक्ष्यभूत जहाँ एक ही तत्त्व काथ वेत्ता अवशिष्ट रहता है ॥ ५ ॥

इस श्लोक में काथपदार्थ का ही विश्व और अभिधानों के द्वारा प्रतिपादन किया जा रहा है। उसकी उपाधि की निवृत्ति होने पर दोनों लक्ष्यों में ऐक्य वह तुम ही हो--इससे कहा जा रहा है।

श्रीगुरु हृदय में अवस्थित दत्तजी ने सन्तोष से कहा--का का अर्थ विश्व है। काः कै धातु से आदि में वेदों का जो उच्चारण करता है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार सोमपा शब्द के समान इस शब्द का रूप चलता है, का यह हंस हंस इस अजपा मन्त्र के उच्चारण का

मुवाच-कावै विश्व इति। काः कैधातोरादौ वेदान् कायतीति व्युत्पत्त्या सोमपावद्रूपं का इति, हंस-हंसेत्यजपामन्त्रोच्चारणहेतुत्वाच्च "यस्माच्छन्दांसि जज्ञिरे" इति श्रुतेश्च। तृतीयारण्यके आत्मखे द्वे का-शब्दपर्यायौ। द्रष्टेति तत्पदार्थप्रतिपादकश्रुतेश्च, वै स एव तैत्तिरीये "अभिसंविशती"ति श्रुतेः। विशतीत्यसौ विश्वः, गन्धर्वप्रश्ने मोक्षधर्मे प्रसिद्धत्वात्। कस्मिन्वेद्य इति चेत्-क्यभावे, का संशयकस्य जीवभूता प्रकृतिः-की, तस्या अभावे अदर्शने, स ईश्वरो वेद्यः विद्योपाधिकत्वात्; आवरण-भङ्गहेतुविज्ञानेनेत्यर्थः। कः काथात् अन्या तु अनिर्वाच्यापि प्रातिभासिकख्यातित्वात् अन्येति निर्देशः, सा की य इति पुंलिङ्गभयलक्षणार्थं कशब्देन वाच्यः, "द्वितीयाद्वै भयं भवती"तिश्रुतेः। का निरतिशयकृत्य-

---

हेतु होने से भी 'का' यह विश्व का अपर पर्याय है, जिससे छन्दों-वेदों की उत्पत्ति हुई--इस श्रुति के अनुसार तृतीय आरण्यक में आत्मा और आकाश ये दोनों शब्द पर्याय हैं, द्रष्टा होने से तत्-पदार्थ का प्रतिपादन करने वाली श्रुति का समन्वय होता है, तैत्तिरीय में वही है 'अभिसंविशति' यह श्रुति भी इसी का समर्थन करती है। जो प्रविष्ट करता है--वह विश्व है, यह गन्धर्व प्रश्न मोक्ष धर्म में प्रसिद्ध है। किस वेदन योग्य में इसके उत्तर में--क्य भाव में कहा गया है, का शंका करने वाले की जीवभूत प्रकृति भी है, उसके अभाव अर्थात् अदर्शन में वह ईश्वर वेद्य है, क्योंकि विद्या-रूपी उपाधि से संवलित है। आवरण भङ्गसाधन विज्ञान होने से, कौन ? काथ से 'अन्या तु' अनिर्वाच्य होने पर भी प्रातिभासिक ख्याति स्वरूप होनें से, अन्या यह निर्देश किया गया है। वह की जो इस पुल्लिङ्ग भयलक्षण अर्थ से क शब्द से वाच्य है, द्वितीय से भय होता है--यह श्रुति होने से, 'का' यह निरतिशय सर्वज्ञत्व रूप

नुग्रहसर्वज्ञत्वोपाधिः विद्यारोपितत्वात्, की परतन्त्रानुग्राह्यकिञ्चिज्ज्ञत्वोपाधिः अविद्यारोपितत्वात्। का क्यौ का च की च उपाधिकृत्यशवले ते द्वे यत्र लुप्ते, कुत्र चेत्? योगिलक्ष्ये। योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय इति पातञ्जलसूत्रबोधितचित्तवृत्तीनां निःशेषलयो योगोऽयम्। विकल्पः यस्यात्मनि न स योगी तेन महावाक्यश्रवणमननिदिध्यासनजन्यात्मज्ञानेन वृत्तिरोधाभ्यासः, क्व इति लक्षणत्यागेन न लक्षितं तस्मिन्परब्रह्मणीत्यर्थः। तत् तत्पदलक्ष्यं न तु तत्पदवाच्यं शवलं निर्धर्मकत्वात्। शक्तिग्रहाभावाच्च शुद्धं जहल्लक्षणया तत्पदवाच्यत्यागः, अजहल्लक्षणया निर्धर्मत्वाच्छक्तिग्रहाभावेऽपि वाच्यव्यावृत्तिमात्रत्यागः, तत्पद-

---

उपाधि है, विद्या में आरोपित होने से 'की' परतन्त्र अनुग्राह्य किञ्चिद् ज्ञत्व उपाधि है, सविद्या आरोपित होने से। 'काक्यै' का उभय की उपाधि के कारण शवल से ये दो जहाँ लुप्त हो जाते हैं, वह कहाँ होता है? योगियों के लक्ष्य में, चित्तवृत्ति का निरोध योग है, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प निद्रा और स्मृति इस पतञ्जलि के सूत्र से बोधित चित्तवृत्तियों का निःशेष लय ही यह योग है। विकल्प जिस आत्मा में नहीं रहता है--वह योगी है, अतः, महावाक्य के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से उत्पन्न आत्मज्ञान से वृत्ति का निरोध अभ्यास है, क्व से कहाँ इस लक्षण का त्याग होने से जो लक्षित नहीं है उस परब्रह्म में, तत् इस पद से वाच्य अर्थ विवक्षित नहीं है, अपितु लक्ष्य अर्थ विवक्षित है, क्योंकि, शवल ही वाच्य होता है, क्योंकि, निर्धर्मक होने से, लक्ष्य ही है।

शक्ति ग्रह का अभाव होने से शुद्ध जहत् लक्षणा से तत्पद के वाच्य का त्याग होता है। अजहत् लक्षणा से निर्धर्म होने से शक्तिग्रह का अभाव होने पर भी वाच्य व्यावृत्ति मात्र का त्याग है,

लक्ष्याङ्गीकारः। अत एव जहदजहल्लक्षणया लक्षितं तत् त्वम् असीत्यर्थः। सुखदुःखशोच्यपरतन्त्रकर्तृभोक्तृत्वादि त्वं नासीत्यर्थः। अविद्यारोपितत्वात् तत्पदार्थवत्त्वं पदवाच्यं त्यक्त्वा लक्ष्यं गृहीत्वाऽखण्डवाक्यार्थः। "त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासी" ति श्रुत्या प्रमेयत्वप्रदर्शितत्वाच्च। एवकारार्थे तुशब्दः। एकः असि पदार्थकः। द्वितीयवृत्तित्यागेन सन्मात्रं भवति "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे" ति तैत्तिरीयश्रुत्या शक्तिग्रहस्य निवारितत्वात् उक्तलक्षणयैव वाक्यार्थः न तु शक्तिग्रहेण परिभाषाकारैस्त्ववैदिकानां वेदान्यशास्त्रदग्धानां जयार्थं शक्त्या स्वीकृतः, तत्त्वात्मबोधार्थमशक्यत्वात्। "एकस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातमिति" श्रुतेः। अस्ति भाति प्रियत्वेन

अजहत् लक्षणा से निर्धर्म होने से शक्तिग्रह का अभाव होने से वाच्य व्यावृत्ति मात्र त्याग है, अतः, तत्पद का लक्ष्य स्वीकार किया है। इसलिए जहत्-अजहत् लक्षणा से लक्षित तत् = वह तुम हो--यह अर्थ होता है। सुख, दुःख, शोच्य, परतन्त्र, कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि तुम नहीं हो--यह अर्थ है। अविद्या आरोपित होने से तत्पदार्थवत्त्व पद के वाच्य का परित्याग कर लक्ष्य को ग्रहण कर अखण्ड वाक्यार्थ होता है। 'तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो' इस श्रुति के द्वारा प्रमेयत्व प्रदर्शित होने से, तु शब्द एवकार अर्थ में है, एक हो--पदार्थ को कहता है। द्वितीय वृत्ति का त्याग होने सत्‌रूप अर्थ अवगत होता है मन से अप्राप्त होने से जहाँ वाणी निवृत्त होती है, इस तैत्तिरीय श्रुति से शक्तिग्रह का निवारण होता है। जहत् अजहत् लक्षणा से ही वाक्यार्थ अवगत होता है, शक्तिग्रह से नहीं होता है। परिभाषाकार ने अवैदिक वेद से अन्य शास्त्रों से दग्धों के जय के लिए शक्ति के द्वारा स्वीकृत है, तत् यह आत्मबोधार्थक नहीं हो सकता है, अशक्य होने से। एक के जानने से सभी विज्ञात होते हैं--इस श्रुति से,

काथवेत्ता ईशजीवोपाध्यात्मकपदार्थमात्रस्य सत्ताऽभिन्नत्वेन वेत्ता ज्ञातेत्यर्थः। आत्मज्ञानवृत्तिलये विदेहमुक्तो वसिष्ठोऽसीत्यर्थः "केन कं पश्येदि" त्यादिश्रुतिभ्यः ॥५॥

काशब्दोऽयं वाच्यकायी हृदिस्थ-
स्तस्यावासं कायमाहुर्मुनीन्द्राः।
तदुभयं कायिकायौ च काथौ
तत्त्वन्त्वेकः काथवेत्ताऽवशिष्टः ॥ ६ ॥

अस्मिन् श्लोके काथ इति कायिकायशब्दाभ्यां स्पष्टं व्याकरोति। काशब्दोयमिति वाच्यकायीतिव्युत्पत्त्या उल्लेखत्वेनायं काशब्दः कायिनः वाचक इत्यर्थः। वाच्यः प्रतिपाद्यश्चासौ कायी यन्त्रारूढः भूतभ्रामक ईश्वरः

अस्ति = सत्ता, भाति = भान, प्रियत्व = आनन्द से काथ का ज्ञाता, ईश और जीव उपाध्यात्मक सभी पदार्थ सत्ता से अभिन्न होने से वेत्ता अर्थात् ज्ञाता है--यह अर्थ होता है। आत्मज्ञान वृत्ति के लय होने पर विदेह मुक्त अवशिष्ट हो--यह अर्थ है, किससे किसको देखेगा–इत्यादि श्रुतियों से यह अर्थ होता है ॥ ५ ॥

यह क शब्द वाच्य क हृदयस्थ कायी है, उसके आवास को मुनीन्द्रों ने काय को कहा है, कायी और काय ये दोनों काथ हैं, एक तत्त्व काथवेत्ता ही अवशिष्ट रहता है ॥ ६ ॥

इस श्लोक में काथ शब्द कायी और काय शब्दों से स्पष्ट व्याकृत है। यह का शब्द वाच्य कायी इस व्युत्पत्ति से उल्लिखित होता है, अतः यह का शब्द कायी का वाचक है। वाच्य प्रतिपाद्य यह कायी यन्त्रारूढ़ भूतभ्रामक ईश्वर हृदय में अंगुष्ठ परिमित काय में प्रतीयमान होने से व्यापक होते हुए भी हृदय में स्थित होने से, हे अर्जुन! यन्त्रारूढ़ सभी प्राणियों को अपनी माया से प्रेरित करता हुआ सभी प्राणियों के हृदय स्थल में ईश्वर अवस्थित रहता है--यह कहा है।

हृद्यङ्गुष्ठमात्रा च काये प्रतीयमानत्वाद् व्यापकोऽपि हृदिस्थः हृदये स्थितत्वात् ।

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायये"ति ॥

भगवदुक्तेः ।

तस्येश्वरस्य भोक्तृत्वद्रष्टृत्वेन आवासम् आ समन्ताद्वासो यस्मिन् तं पिप्पलाय मौनत्वात् तत्किमितिचेत् कार्यं शरीरं तत्त्वं सङ्घातक्षेत्रं सजीवमिति मुनीन्द्राः व्यासादयो मुनीश्वरास्तमाहुः । "ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थ" मिति श्रुतिभगवदुक्तिभ्याश्च तत्तस्माद्भयलक्षणोऽयं सुखदुःखभोगहेतुकत्वेन प्रसिद्धत्वात् । थः—क्षेत्रशवलो जीवः वाच्यः न तु लक्ष्यः, सतत्त्वातिरिक्तकेवलक्षैत्रस्यासत्त्वात् । कायिकायौ—कायाधिकरणः कायी च कायोऽस्यातः कायः, तावेव कायौ पर्यायत्वेन काथशब्दार्थकावित्यर्थः । न तु लक्ष्यौ प्रातिभासिक-

---

उस ईश्वर का भोक्तृत्व और द्रष्टृत्व रूप से आवास अर्थात् सर्वत्र वास है, जिसका उसको पिप्पल के प्रति मौन रूप से वह कौन-सा पदार्थ है इस आशङ्का के उत्तर में कार्य शरीर तत्त्व सङ्घात क्षेत्र सजीव है——मुनिवर व्यासादि मुनिश्रेष्ठ ने उनको कहा है। ऊपर मूल है नीचे शाखाबाला अश्वत्थ है। इस श्रुति और भगवान् की उक्ति के आधार पर वह है। अतः भयस्वरूप यह सुख-दुःख भोग साधन के रूप में प्रसिद्ध है। 'थ' शब्द का वाच्य क्षेत्र शवल जीव है, यह लक्ष्य नहीं है, क्योंकि, सतत्त्व से अतिरिक्त केवल क्षेत्र नहीं रह सकता है। कायिकायौ = काय का अधिकरण कायी और काय इसका है, अतः काय है, ये दोनों कायी और काय ही काथ शब्द के अर्थ हैं——यह आशय है। प्रातिभासिक और व्यावहारिक लक्ष्यस्वरूप

व्यावहारिकोपाधिस्थितसन्मात्रैक्यत्वादेकस्तत्त्वमिति । लक्षितार्थत्वेन काथयोर्वेत्ता "नाऽसतो विद्यते भाव" इति भगवदुक्तत्वात् । शुक्तिसत्त्वाभिन्नप्रातिभासिक-रजतमिदमिव वेत्तृत्वात् । स्वप्नदृष्टदर्शनवृत्तिर्जाग्रद्वृत्त्या निरस्तेव तन्निरस्तवेद्ये अवशिष्टः उर्वरितस्त्वमसीत्यन्वयः अनिर्देश्यत्वात् ॥ ६ ॥

नाहं काच्यौ तौ क्षरौ चाक्षरौ भो !
ज्ञात्वा ज्ञाता चैक्यलिङ्गं त्यज त्वम् ।
वाच्ये त्यक्त्वा लक्ष्ययोरैक्यशुद्धं-
तत्त्वन्त्वेकः काथवेत्ताऽवशिष्टः ॥ ७ ॥

केनाभ्यासेन कथं किं प्राप्यमिति चेदित्थं नाहमिति-

उपाधि में स्थित सत् स्वरूप की एकता के आधार पर एक ही तत्त्व है। क्योंकि, काथ को जानने वाला लक्षित अर्थ के रूप में ना भाव अर्थात् सत् असत् नहीं है इस रूप में गीता में भगवान् के द्वारा कहा गया है, क्योंकि शुक्ति के सत्त्व से अभिन्न प्रातिभासिक रजत यह है के समान ये ज्ञातृता है। स्वप्न दृष्ट दर्शन वृत्ति जागरण वृत्ति से निरस्त हो जाती है उसी तरह उससे निरस्त केवल ज्ञातृत्व रूप में अवशिष्ट तत्त्व तुम हो--यही शेष रहता है--इस प्रकार अन्वय है अनिर्देश्य होने से ॥ ६ ॥

मैं क्षर और अक्षर जड़ एवम् अध्यस्त स्वरूप का और क्य का वाच्य नहीं हूँ, क्योंकि, अनिर्देश्य शुद्ध और लक्ष्य की ऐक्यरूपता ही उसका स्वरूप है। ज्ञानकर ज्ञाता स्वयं प्रसिद्धि, प्रवृत्ति स्थिति शील स्वरूप प्रधान सद् जिससे अवगत होता है उसको छोड़ दो। वाच्यों का परित्याग कर एक शुद्ध लक्ष्यात्मक एक तत्त्व काथ-वेत्ता ही अवशिष्ट रहता है ॥ ७ ॥

किस अभ्यास से कैसे क्या प्राप्य है--इस आशङ्का के उत्तर में

तौ उक्तद्रव्यौ काक्यौ वाच्यौ जडावध्यस्तावुपाधिस्वरूपौ अहं न अनिर्देश्यशुद्धलक्ष्यैक्यतत्स्वरूपत्वात् इत्यभ्यासेन तावुपाधी, पुनः किंलक्षणौ ? क्षरौ विकृतित्वेन क्षरन्ताविति क्षरधर्मिणौ विद्याऽविद्याकार्यत्वात् चैत्यपरम्, अक्षरौ नित्यमुक्तजीवन्मुक्तावस्थोपाधिकूटस्थावक्षरधर्मिणौ केवलकारणोपाधिकत्वात्। स्वाश्रयस्वविषयत्वात् स्वज्ञानेन ज्ञात्वा ज्ञाता स्वयं भो शिष्य ! त्वं चैक्य-लिङ्गं त्यज, सदिति प्रधानं लिङ्ग्यते ज्ञायते येन तत् प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलात्मकं लिङ्गं जहीत्यर्थः। अनिर्वचनीयदर्शनत्वेन "चूडालाख्याने" वाशिष्ठे चित्तत्यागोक्तत्वात् चित्तप्रवर्तकप्रवर्त्यत्वे वाच्ये शबले त्यक्त्वा शुद्धनिर्धर्मकचिन्मात्रलक्ष्ययोः ऐक्यं निरस्त-

---

इस प्रकार का मैं नहीं हूँ--यही इस पद्य के द्वारा कहा गया है। वे पूर्वोक्त का और क्य का वाच्य जड़ और अध्यस्त उपाधि स्वरूप है, अहं नहीं है, क्योंकि अनिर्देश्य शुद्ध बुद्ध लक्ष्यस्वरूप ऐक्य स्वरूप होने से--इस अभ्यास के कारण हैं। दोनों उपाधियों का क्या स्वरूप है ? विकृति रूप से क्षर है क्षर धर्मी है, विद्या और अविद्या का कार्य होने से। च यह अपर स्वरूप का बोधक है, अक्षर स्वरूप वाले अर्थात् नित्यमुक्त और जीवन्मुक्त रूप अवस्था रूप उपाधि से युक्त अक्षर धर्मी, केवल कारणस्वरूप उपाधि होने से। ज्ञान का आश्रय और ज्ञान का विषय होने से, हे शिष्य ! अपने ज्ञान से उसको जानकर स्वयं ज्ञाता हो जाओ। तुम ज्ञान स्वरूप होकर लिङ्ग का परित्याग करो, सत् यह प्रधान लिङ्ग अर्थात् ज्ञान जिससे होता है वह प्रख्या = नाम, प्रवृत्ति स्थिति और शीलस्वरूप लिङ्ग का परित्याग करो--यह अर्थ है। अनिर्वचनीय दर्शनत्व से वाशिष्ठ रामायण के "चूडाल" आख्यान में चित्त के त्याग की कथा कही गई है, चित्त प्रवर्तक प्रवर्त्यत्व रूप वाच्य में शबल का परित्याग कर शुद्ध निर्द्धर्मक

संख्याक्रम्, तच्च शुद्धमित्थं तत्त्वं तत्स्वरूपस्त्वमसि, वाच्यं नासीत्यर्थः। त्विति निश्चयेन। तत्स्वरूपेण एकः न द्वितीयः। काथवेत्ता त्वं कथमिति चेत्? विकल्पित-वेत्तृत्वात् काथवेत्तासि, तदभावेऽवशिष्ट इत्यर्थः ॥ ७ ॥

लोकालोकौ यस्य सिद्ध्या प्रलुप्तौ
शीतोष्णे ते सप्रभे द्वे प्रलीने।
आ आद्यन्तौ साभिमानौ प्रणष्टौ
तत्त्वन्त्वेकः काथवेत्ताऽवशिष्टः ॥ ८ ॥

एतादृशविशिष्टानुभवे केन कारणेन किं लुप्तमिति चेदाह—लोकालोकाविति। लोक्यते चक्षुःप्रधानेन्द्रियैः प्रत्यक्षेणासौ लोकः, सविशेषव्यक्तात्मकत्वात्। तैर-प्रत्यक्षत्वान्नालोक्यते असौ अलोकः, अविशेषलिङ्गा-

---

चिन्मात्र लक्ष्यों में संख्याशून्य एकत्व है, और वह शुद्ध यह तत्त्वं तत् = शुद्ध स्वरूप तुम हो, तुम वाच्य नहीं हो--यह अर्थ है, तु का अर्थ निश्चय है, तत् अर्थात् शुद्ध स्वरूप से एक है द्वितीय नहीं है। ऐसी स्थिति में तुम काथ के वेत्ता किस प्रकार हो? विकल्पित ज्ञाता होने से काथ के वेत्ता हो, उसके अभाव में अवशिष्ट हो--यह अर्थ है ॥ ७ ॥

जिसकी सिद्धि से लोक और अलोक प्रलुप्त हो जाता है। शीतोष्ण प्रभा के साथ विनष्ट हो जाता है। आद्यन्त अभिमान के साथ विनष्ट हो जाते हैं, काथ वेत्ता वह शुद्ध तुम बच जाते हो ॥८॥

इस प्रकार के विशिष्ट अनुभव में किस कारण से क्या लुप्त होता है--इस आशङ्का के प्रसङ्ग में "लोकालोक" यह कहा है। चक्षुः आदि प्रधान इन्द्रियों से जो देखा जाता है--वही लोक है, सविशेष व्यक्त आत्मस्वरूप होने से। उन इन्द्रियों से अप्रत्यक्ष होने से जो नहीं दिखाई देता है--वह अलोक है, अविशेष लिङ्ग

लिङ्गात्मकव्यक्तिशून्यत्वात्। लोकश्च अलोकश्च तौ, अथ वा "सच्च त्यच्चाभवदि"ति काठकश्रुतिबोधितौ। सदिति भूम्यप्तेजांसि दित्यदितिबाह्याकारोऽचाक्षुषप्रत्यक्षाप्रत्यक्षौ। यस्य "अक्षरं ब्रह्म परममि"ति भगवद्बोधितस्याक्षरस्य सिद्ध्या गुरुशास्त्रात्मप्रत्ययप्राप्त्या प्रलुप्तौ आत्यन्तिकज्ञानप्रलयङ्गतौ। इमे उल्लेखत्वात् सर्वभूतप्रत्यक्षविषये शीतोष्णे द्वे कफपित्तात्मकचन्द्रसूर्यस्वरूपे, श्वेतारक्तप्रभाभ्यां सप्रभे हृन्नाभियोगिप्रत्यक्षे प्रलीने निर्बीजसमाधौ प्रलयङ्गते इत्यर्थः। न तु निद्रामरणादेः सबीजानां पुनर्भवात्। "भवप्रत्ययः प्रकृतिलयानामि"ति पातञ्जलोक्तेः। आ आद्यन्तौ—आमहाभूतब्रह्मादिपि-

---

=सम्भव अर्थात् उत्पत्ति और प्रलय ये दोनों। साभिमान अर्थात् अलिङ्गस्वरूप व्यक्ति शून्य होने से। लोक और अलोक लोकालोकौ। अथवा सत् और वह होता है--काठक उपनिषद् से वे दोनों ज्ञात है। भूमि, जल और तेज, दिति और अदिति यह सत् है जो बाह्याकार अचक्षु से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष है। अर्थात् पृथिवी, जल और तेज प्रत्यक्ष है एवं दिति और अदिति अप्रत्यक्ष है।

जिसका "अक्षर स्वरूप परम् ब्रह्म है" यह भगवान् से बोधित अक्षर की सिद्धि होने से गुरुशास्त्र और आत्मज्ञान से प्राप्त होने से दोनों प्रलुप्त होकर आत्यन्तिक ज्ञान प्रत्यय अवस्था को प्राप्त होते हैं। ये उल्लिखित होने से सभी प्राणियों के द्वारा प्रत्यक्ष विषय शीत और उष्ण ये दो कफ और पित्त स्वरूप चन्द्र और सूर्य स्वरूप श्वेत एवं आरक्त प्रभाओं से दीप्ति सम्पन्न हृदयनाभि में योगियों से प्रत्यक्ष प्रलीन निर्बीज समाधि में प्रलय अवस्था प्राप्त होते हैं--यह अर्थ है। निद्रा और मरणादि की अवस्था नहीं है, क्योंकि, सभी बीजों की पुनः उत्पत्ति होने से। भव प्रत्यय प्रकृतिलय वालों के लिए कहा है--ऐसा पतञ्जलि ने कहा है। आ आदि से अन्त तक अर्थात् महाभूत से लेकर ब्रह्मादि पिपीलिका तक भूतवर्गों का आदि अजस्र

पीलिकान्तानां भूतानामादिः अजस्रं सम्भवः, अन्तः प्रलयश्च तौ। साभिमानौ—उत्पन्नोऽस्मि, मृतोऽस्मीत्यभिमानाभ्यां संहतौ यथा रज्जुसर्पौ रज्जुज्ञानेन नष्ट इव प्रणष्टौ अपुनर्भवङ्गतावित्यर्थः। "उत्पत्तिस्थितिलयतिरोधानधर्मवर्जितं कैवल्यं तस्य तदिति नामे"ति श्रुतेः। तत् त्वं जीवश्वेरोपाधिद्वितीयशून्यत्वेन एकः अद्वितीयः, सर्वकारणकार्यकाथोपाधिसाक्षित्वात् तदारोपितवेत्तृत्वाच्च। काथवेत्ता तत्स्वरूपभूतत्वेन गलितवेत्तृत्वेऽवशिष्टः उर्वरित इत्यर्थः ॥ ८ ॥

भूरापोऽग्निर्वायुखे मानसन्त-
दबुद्ध्यात्मा वै षोडशान्ये विकाराः।
शुद्धस्त्वं यः प्राकृतः पञ्चविंश-
स्तत्त्वन्त्वेकः काथवेत्ताऽवशिष्टः ॥ ९ ॥

उत्पन्न हुआ हूँ, मरगया हूँ इस अभिमान से सम्पन्न होकर जैसे रस्सी में सर्प भ्रम रस्सी के ज्ञान से नष्ट के समान सर्वथा नष्ट होकर पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं--यह आशय है। उत्पत्ति, स्थिति, लय, तिरोधान धर्म से शून्य ही कैवल्य है। उसकी यह संज्ञा है--ऐसा श्रुति में कहा गया है। वह तुम जीव और ईश्वर उभय उपाधि से शून्य होने से एक अद्वितीय सभी कारण-कार्य-रूप काथ उपाधि का साक्षी और उसकी उपाधि का ज्ञाता होता है। काथ का ज्ञाता उसका स्वरूप भूत होने से ज्ञातृत्व के विनष्ट होने से अद्वितीय शुद्ध ही शेष में रहता है ॥ ८ ॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, मन, अहङ्कार, बुद्धि, आत्मा एवम् अन्य सोलह विकार हैं, तुम एकमात्र शुद्ध पचीसवे तत्त्व हो चौबीस प्राकृत है, इस प्रकार काथ वेत्ता यही एकमात्र तत्त्व अवशिष्ट रहता है ॥ ९ ॥

श्लोकेऽस्मिन् क्षेत्रस्वरूपः क्षेत्राधिकरणकः क्षेत्रनियन्ता शुद्ध इति चतुःसंज्ञाभिराह–भूरापोऽग्निरिति। भूर्गन्धगुणा, रसरूपस्पर्शशब्दगुणा अपि स्यात् आकाशादिचतुर्विधभूतकार्यत्वात्। अग्निः रूपगुणः, स्पर्शशब्दगुणोऽपि भवति, खादिद्विविधभूतकार्यत्वात्। वायुः स्पर्शगुणः शब्दगुणश्च आकाशकार्यत्वात्। खं शब्दैकगुणं "तस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इति श्रुतेः। वायुश्च खश्च वायुखे, सङ्कल्पविकल्पात्मकं मानसम्, तत् कारणमहङ्कारः, अहङ्कारकारणं महत्, अध्यवसायात्मिका बुद्धिः, प्रत्यक्षानुमानोपमानानुपलब्ध्यर्थापत्तिशब्दात्मकषट्प्रमाणजन्यवृत्तिका प्रमारूपचैतन्याभिव्यञ्जकत्वात्। निरावरणा समष्टिः आत्मा। षोडशविकृतोस्सप्तप्रकृतीरतीत्यात्मा जीवभूता प्रकृतिः। इत्यष्टधा प्रकृतिः

इस पद्य में क्षेत्रस्वरूप, क्षेत्राधिकरणक, क्षेत्रनियन्ता, शुद्ध इन चार संज्ञाओं से कहा गया है––पृथिवी, जल, अग्नि गन्ध गुणवाली, रस, स्पर्श और शब्द गुणवाली भी है। आकाश आदि चार प्रकार के भूतपदार्थ का कार्य होने से। अग्नि रूप गुणवाली और स्पर्श शब्द गुणवाली भी होती है, आकाश आदि दो प्रकार के भूत का कार्य होने से। वायु स्पर्श और शब्द गुणवाला है, आकाश का कार्य होने से। आकाश का एकमात्र शब्द ही गुण है, क्योंकि, उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ––यह श्रुति में कहा गया है वायु और ख = आकाश वायु-खे, सङ्कल्प विकल्पात्मक मानस है उसका कारण अहङ्कार है, अहङ्कार का कारण महत् है, अध्यवसायात्मक बुद्धि है, वह प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अनुपलब्धि, अर्थापत्ति, शब्दस्वरूप छः प्रमाणजन्य वृत्ति वाली है, प्रमारूप चैतन्य से अभिव्यञ्जक होने से। आवरणरहित समष्टि आत्मा है। सोलह प्रकृतियों और सात प्रकृतियों से परे आत्मा जीवभूत प्रकृति है। आठ प्रकार की

तस्या अन्ये विकाराः षोडशसंख्याकाः। का इति चेत् घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्छ्रोत्रमिति बुद्धीन्द्रियाणि, पायूपस्थ-पादहस्तवागिति कर्मेन्द्रियाणि पञ्च, गन्धरसरूपस्पर्श-शब्द इति पञ्चतन्मात्राण्येवं पञ्चदश कार्यरूपं मनश्चेति षोडश, तत्र त्रयोविंशतितत्त्वलक्षणकार्यस्य चतुर्विंशम-व्यक्तं तद्भावः प्राकृतः। "सा सत्ता सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादय" इति व्याकरणहरिकारिकोक्तेः स एव जीवः। सविवेकेन तद्भिन्नत्वेन पञ्चविंशः समष्टिः त्वं सर्वक्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञः, यः शुद्धो वासुदेवस्तत्पदार्थलक्ष्यकः। तेनैकः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः काथयोर्ज्ञाता ज्ञानस्वरूपश्च। तद-भावेऽवशिष्टोऽसीति विद्धीत्यर्थः।

यद्वा, व्यक्ताव्यक्ताद्रहितो यः शुद्धः अनिर्देश्यः। न तु वाच्यः जडदुःखशान्तिव्यावृत्त्या वेदप्रतिपाद्य-

---

प्रकृति है, उस प्रकृति के अन्य सोलह संख्या वाले विकार हैं। वे सोलह कौन हैं--घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र, ज्ञान इन्द्रियाँ हैं, पायु, उपस्थ पाद, हाथ, वाणी ये पाँच कर्म इन्द्रियाँ हैं। गन्ध, रस, रूप स्पर्श, शब्द ये पञ्चतन्मात्रा हैं, इस प्रकार पन्द्रह कार्यरूप हैं और सोलहवाँ मन है, तेइस तत्त्वात्मक कार्य का चौबीस अव्यक्त हैं, उसका भाव प्राकृत है। वह सत्ता है, वह महान् आत्मा है, उन्हीं को त्वतल आदि प्रत्यय कहता है--यह व्याकरण की हरिकारिका में कहा जाता है, वही जीव है। विवेकपूर्वक उससे भिन्न पचीश की समष्टि है, तुम सभी क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ है, जो शुद्ध बासुदेव है वह तत्पदार्थ का लक्ष्य है। इसलिए, एक क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ काथ का ज्ञाता और ज्ञानस्वरूप है। उसके अभाव में तुम अवशिष्ट हो—यह तुम जानो—यह अर्थ है।

अथवा व्यक्त और अव्यक्त से रहित जो शुद्ध है--वह अनिर्देश्य है, वह वाच्य नहीं है जड़, दुःख, शान्ति की व्यावृत्ति होने से—वेद से

त्वात् । तत्स्वरूपस्त्वं शुद्धोऽप्यज्ञानतः प्रकृतिभावस्व-रूपत्वात् प्राकृतः, प्रकृत्यधिकरणः अनिर्वाच्यप्रकृति-प्रातिभासिकसत्त्वरूपेण ग्राह्यत्वात् प्रकृतित्वाच्च । चतुर्विंशमिदं क्षतत्राणात् क्षयात् क्षरणात् क्षेत्रमिव क्षेत्रमिति ज्ञानेन विवर्त्तमयमिति क्षेत्रैक्यं तिरस्कृत्य क्षेत्रज्ञोऽहं पञ्चविंशः, क्षेत्रज्ञत्वपञ्चविंशत्यपरित्यागेन क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञाता वृत्तिस्वरूपं षड्विंशमहमिति विद्धीत्यर्थः । तेन षड्विंशतिसंख्या काथवेत्तृत्वात् । तदभावेऽवशिष्टः असीत्यर्थः ॥ ९ ॥

एतादृशं कथमनुभूतम्, गीतश्च कैरेवमनिर्देश्यविष-यत्वाच्चेन्मैवम् ।

द्रष्टा दृश्यं दर्शनं यत्र लुप्तं
सत्संवित्त्या योगिभिश्चानुभूतम् ।

प्रतिपाद्य होने से, तत्स्वरूप तुम शुद्ध होने पर भी अज्ञान से प्रकृति-भाव स्वरूप होने से प्राकृत हैं, प्रकृति अधिकरणक अनिर्वाच्य प्रकृति प्रातिभासिक सत्त्वरूप से ग्राह्य होने से एवं प्रकृति होने से । यह चौबीस नष्ट के रक्षण से नाश, क्षरण होने से क्षेत्र के समान क्षेत्र इस ज्ञान से विवर्त्तमय होने से क्षेत्र की एकता का तिरस्कार में पचीसवाँ क्षेत्रज्ञ है । पचीसवें क्षेत्रज्ञत्व का अपरित्याग करने से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञाता वृत्तिस्वरूप छब्बीसवाँ मैं हूँ यह जानो--यह अर्थ होता है । अतः, काथवेत्ता होने से छब्बीस संख्या है, उसके अभाव में अवशिष्ट रहता हैं ॥ ९ ॥

ऐसा अनुभव किस प्रकार किया और किसने इन विषयों का वर्णन किया, क्योंकि, यह विषय तो अनिर्देश्य है--इस आशङ्का के उत्तर में कहा जा रहा है :--

द्रष्टा, दृश्य और दर्शन जहाँ समाप्त हो जाता है सत् संवित्ति के द्वारा योगियों ने अनुभव किया है । वेद में इसको नेति नेति = यह

वेदे गीतं नेति नेतीति शब्दै-
स्तत्त्वन्त्वेकः काथवेत्ताऽवशिष्टः ॥ १० ॥

द्रष्टेति। "यदज्ञानादिदं भाती"ति श्रुतेः। आवरण-हेतुविक्षेपशक्त्यारोपितद्रष्टृत्वम्, प्रमातृचैतन्ये दृश्यं दृष्टमित्यनेन सुखी दुःख्यहमिति अनुभववृत्तित्वात् द्रष्टा। प्रमाणचैतन्ये दृश्यमिदमिति प्रमाणजन्यवृत्त्या-रोपितं दर्शनम्। प्रमेयचैतन्ये दृश्यमस्तीति भाववृत्त्या-रोपितत्वात् दृश्यं "यज्ज्ञानाद्विनिवर्तते" इत्याथर्वण-श्रुतेः। यथा रज्जुसर्पे रज्जुज्ञानादिवात्मज्ञानव्यावृत्तित्वेन "प्रज्ञानं ब्रह्मे"ति श्रुतिजन्यात्मज्ञानवृत्त्या लुप्तम् अत्य-न्तादर्शनं गतम्। यत्र यस्मिन्प्रकृष्टज्ञानमात्रस्वरूपे

नहीं, यह नहीं इन शब्दों से कहा गया है, काथ वेत्ता के रूप में अवशिष्ट एक वही तत्त्व है ॥ १० ॥

जिसके अज्ञान से यह भान होता है। इस श्रुति के अनुसार आवरण साधन और विक्षेप शक्ति से आरोपित द्रष्टृत्व, प्रमाता के चैतन्य में दृश्य को देखा इससे मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ अनुभव वृत्ति के कारण द्रष्टा होता है। प्रमाण चैतन्य में दृश्य है भाववृत्ति आरोपित होने से दृश्य है प्रमाणजन्य वृत्ति से आरोपित ही दर्शन है। प्रमेय चैतन्य में दृश्य है इस भाववृत्ति से आरोपित होने से दृश्य है यह सिद्ध है, जो ज्ञान से विनिवृत्त होता है--यह अथर्ववेद में श्रुति में कहा गया है। जैसे रस्सी में सर्प का ज्ञान यह रस्सी के ज्ञान से वैसे ही आत्मज्ञान से व्यावृत्त दृश्य विनिवृत्त होता है, क्योंकि, प्रज्ञान ब्रह्म है, इस श्रुति से उत्पन्न आत्मज्ञान की वृत्ति से वह लुप्त होता है, सर्वथा उसका अदर्शन प्राप्त होता है। यत्र अर्थात् जहाँ = प्रकृष्ट ज्ञान रूप ब्रह्म में। वितर्क विचार आनन्द अस्मिता अनुगम विषय से दृश्य की निवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि, वहाँ भेद-भाव का दर्शन रहता है। किन्तु यह जिज्ञास्य है, द्रष्टा आदि भेद से

ब्रह्मणि। न तु वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमविषये भेदभावदर्शनत्वात्। तर्हि द्रष्टादिभेदशून्यकेन कैरनुभूतमितिचेत् आह–सत्संम्वित्त्या; "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमि"ति श्रुतिबोधितसदितिशून्यव्यावृत्त्याऽद्वितीयमित्यावरणविक्षेपस्वरूपाविद्ययैकत्वाद्यारोपित - तन्निवृत्तिप्रवृत्तिकृतिरूपद्वित्वमत्यन्तव्यावृत्त्या सन्मात्रमेवेति सत्संवृत्तिस्तया योगिभिः महावाक्यश्रवणमनननिदिध्यासननिरुद्धवृत्तिभिरनुभूतं तद्भूत्वा तदनुभवेनेत्यर्थः। न तु भणकैर्गीतमितिचेत्? वेदैः–ऋग्यजुःसामाथर्बणैः गीतं कीर्त्तितम्। नेति नेतीति शब्दैः "नेति नेतीतिगार्गी"ति बृहदारण्यकश्रुतेः। चैतन्यातिरिक्तं नेति नेतीत्यर्थः। नेतिमुखेन भावे मायाकार्ये च निरस्ते सर्व-

---

शून्य इस ज्ञान का किसने अनुभव किया है? इसके समाधान में कहा है सत्संवित्ति से अनुभव किया गया है। हे सोम्य! यह आगे सद्रूप ही था, एक था अद्वितीय था इस श्रुति से बोधित सत् के द्वारा शून्य की व्यावृत्ति से अद्वितीय यह आवरण विक्षेप स्वरूप अविद्या से एकत्वादि आरोपित दृश्य की निवृत्ति प्रवृत्ति कृति रूप द्वित्व की अत्यन्त व्यावृत्ति होने से सन्मात्र ही है, इस सत् की वृत्ति से योगियों ने महावाक्य का श्रवण मनन और निदिध्यासन से वृत्तिका निरोध कर यह अनुभव किया है, और इस अनुभव से तत्स्वरूप की प्राप्ति होती है। यह भाँड अर्थात् चाटुकार का गायन है––इस आशङ्का के समाधान में कहा गया है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में यह कहा गया है। नेति, नेति यह नहीं, यह नहीं है गार्गी इन शब्दों से वृहदारण्यक श्रुति में कहा गया है, चैतन्य से अतिरिक्त कुछ नहीं है––यह तात्पर्य है। निषेध मुख माया और उसके कार्य की निवृत्ति होने पर सर्वज्ञान स्वरूप है––यह कहा जा सकता है, विक्षेप और आवरण भावरहित सन्मात्र स्वरूप तुम हो।

भानास्तीति वक्तुमशक्यत्वात्; विक्षेपावरणभावशून्यं सन्मात्रं त्वमसीत्यर्थः। न त्वनात्मा "त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासी"ति श्रुत्युक्तत्वात्। तेनैकः श्रुत्युक्त एवकारेण ब्रह्मातिरिक्तद्वितीयनिरासादर्शितत्वाच्च। काथवेत्ताः किञ्चिज्ज्ञत्वनियन्तृत्वकाथोपाधिज्ञातृत्वात्। तन्निवृत्तौ अवशिष्ट इत्यर्थः॥ १०॥

अस्मद्युष्मद्वाच्यबाह्यान्तरे द्वे
स्थूलं सूक्ष्मं कारणं सच्चासच्च।
यस्मिन्नेव मायया कल्पितं वै
तत्त्वन्त्वेकः काथवेत्ताऽवशिष्टः॥ ११॥

अद्वैतब्रह्मणि केनेदं कल्पितमिति चेदाह—अस्मदिति। अस्मद्युष्मद्वाच्यबाह्यान्तरे "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी"तिश्रुतेः। देहाधिकरण-

---

आत्मा नहीं है यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि 'तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो' यह श्रुति में कहा गया है। एकत्व को कहने वाली श्रुति में कथित एक से ब्रह्म से अतिरिक्त द्वितीय का निरास होता है--यह प्रदर्शित किया गया है। काथ वेत्ता, किञ्चित् जानने वाला, नियन्ता, काथोपाधि ज्ञातृत्व होने से, उसकी निवृत्ति से ही अवशिष्ट रह जाता है॥ १०॥

अस्मत् शब्द और युष्मत् शब्द से वाच्य बाह्य और आभ्यन्तर इन दो, स्थूल सूक्ष्म और कारण सत् और असत् जिस ज्ञान स्वरूप ब्रह्म में कल्पित है--वही एक काथ वेत्ता तत्त्व अवशिष्ट है॥ ११॥

अद्वैत ब्रह्म में यह किस प्रकार कल्पित है--इस आशङ्का के समाधान में कहा गया है कि अस्मद् = अहम् और युष्मद् = त्वम् का वाच्य बाह्य और आभ्यन्तर है, क्योंकि, इस जीवस्वरूप आत्मा के

कमध्यात्मम् अस्मत्प्रत्ययवाच्यं प्रत्यग्वृत्त्याश्रयत्वात् क्षेत्रज्ञमित्यर्थः, अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णामिति तेजोबन्नात्मकक्षेत्रत्वात्। युष्मत्प्रत्ययवाच्यं रूपाश्रयत्वात्। विषयविषयित्वाभ्यां बाह्यश्चान्तरश्चेति बाह्यान्तरे ते द्वे निर्दिष्टे। "इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विद"इतिभगवदुक्तेः, "सत्यश्चानृतश्चे"ति श्रुतिनिर्दिष्टत्वाच्च। इदं शरीरमित्युल्लेखितयुष्मत्प्रत्ययवाच्यस्य भेदत्रयमाह—स्थूलम्। त्रिवृत्तं करवाणीति श्रुतेस्त्रिवृत्करणं भूतकार्यं सविशेषत्वात्। "तस्मादात्मन आकाशः सम्भूत"इति तैत्तिरीयश्रुतेः पञ्चानामुत्पत्तिश्रवणात्। यथा जलमृन्मिश्रद्धिकरणकृते गृहे मठाकाशवायूष्मादि मठाधिकरणकत्वेन प्रतीय-

---

द्वारा अनुप्रविष्ट होकर, नाम और रूपात्मक विश्व को व्याकृत किया है—यह श्रुति में कहा गया है। देहाधिकरण अध्यात्म अस्मत् शब्द का वाच्य है, वह प्रत्यग् वृत्ति का आश्रय होने से क्षेत्रज्ञ है। क्योंकि, उत्पत्ति शून्य एक लोहित शुक्ल और कृष्ण तेज, जल और अन्नात्मक क्षेत्र है। क्योंकि युष्मत् प्रत्यय का वाच्य रूप का आश्रय है। विषय और विषयी के द्वारा वाच्य और आभ्यन्तर ये दो निर्दिष्ट है। हे अर्जुन! यह शरीर क्षेत्र कहा जाता है, इसको जो जानता है उसको क्षेत्रज्ञ कहा जाता है—यह भगवान् ने कहा है। सत्य और अनृत यह श्रुति में भी कहा गया है। इदं शरीरं शब्द के द्वारा निर्दिष्ट युष्मत् प्रत्यय वाच्य का तीन भेद कहा गया है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण। त्रिवृत्तं करवाणि इस श्रुति के द्वारा त्रिवृत्करण भूतकार्य है—सविशेष होने से। क्योंकि उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, इस तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार पाँचो की उत्पत्ति कही गई है। जैसे जल और मिट्टी मिश्रित के विकरण भूत गृह में मठाकाश, वायु, उष्मा = तेज आदि मठाधिकरण के रूप में प्रतीति होती

मानत्वात् पञ्चीकृतश्रोत्रियानुवादाच्छ्रौतम्, न तु स्मार्तं पञ्चीकरणम्, पञ्चीकृतभूतकार्यविराट्शरीरमित्यर्थः। सूक्ष्ममपञ्चीकृतभूतकार्यत्वात् सहिरण्यगर्भलिङ्गश्चेत्यर्थः। कारणं–निरोधावरणशक्त्यात्मकप्रज्ञमलिङ्गत्वात्, शरीरद्वयसमवायहेतुत्वाच्च। एतेषां सदितिभाव सत्त्वम्। तु–इत्यपरेषामात्मन्यभावत्वमसत्। च समुच्चयार्थः। यस्मिन्मायाश्रये ब्रह्मणि अस्मद्युष्मत्प्रत्ययगोचरस्थूलसूक्ष्मकारणमित्युक्तपूर्वं सर्वम्। एवं सप्रकारकम्। मायया–अघटघटनपटुरूपया, स्वयमेव कल्पितपाषाणशालभञ्जिकेव। वै निश्चितं तत्त्वं नेदं सम्यग्दर्शनत्वात्, न शालभञ्जिकापाषाणाविति। द्वैतशून्यत्वात् एकः सङ्ख्यागुणरहितः। काथार्थकयोरुपाध्योः सत्ताया नातिरिक्तत्वेन वेत्ता ज्ञाता। ज्ञेयशून्यत्वादवशिष्ट इत्यर्थः।११।

है, पञ्चीकृत श्रुति के अनुवाद से श्रुत है। यह पञ्चीकरण प्रक्रिया स्मृति से उपलब्ध नहीं है। पञ्चीकृत भूतकार्य विराट् शरीर है। सूक्ष्म :––अपञ्चीकृत भूतकार्य होने से सहिरण्यगर्भ लिङ्ग है। कारण :––निरोध और आवरण शक्त्यात्मक प्राज्ञ है––अलिङ्ग होने से और पूर्वोक्त शरीरद्वय समवाय का हेतु होने से। इनकी सद्रूपता सत्त्व है। 'तु' यह अन्य का आत्मा में अभावत्व रूप असत्। च का अर्थ समुच्चय है। जिस माया के आश्रयभूत ब्रह्म में अस्मत् और युष्मत् प्रत्यय के विषय स्थूल, सूक्ष्म और कारण पूर्वोक्त सभी हैं। इसी प्रकार उसके सभो प्रकार हैं। मायया = अघटित घटनास्वरूप से, स्वयं ही कल्पित पत्थर की पुत्तली के समान। "वै" क्योंकि ये निश्चित तत्त्व नहीं है, सम्यग् दर्शन होने से शालभञ्जिका और पाषाण दो नहीं है। द्वैत शून्य होने से, एक अर्थात् संख्या और गुण से रहित काथ अर्थो की उपाधियों की सत्ता से अतिरिक्त कोई ज्ञाता नहीं है, ज्ञेय शून्य होने से वही अवशिष्ट है॥ ११॥

व्यक्ते दृश्यादृश्यधर्मेऽथ भावे
सन्मात्रन्त्वं स्वानुभूत्या भवेयम् ।
शून्यङ्कृत्वा शून्यमेतच्च चित्त्वा-
च्चिद्रूपं त्वं काथवेत्ताऽवशिष्टः ॥ १२ ॥

तर्हि कथमुत्पन्नसम्यग्विवेकिनाऽस्मिन्दृश्ये अभ्यसनीयमिति चेत्—व्यक्त इति। महाभौतिके सकारणे आत्मगोचरत्वाद्दृश्ये प्रमेयचैतन्ये। यथा खण्डायां सूदशिल्पनिमित्तनौकादिनानापदार्थमिव दृश्यं धर्मत्वम्, प्रमेयप्रमाणप्रमातृसत्तातिरिक्तत्वेन माभूत् ते तव मायानिमित्तत्वात् स्वानुभूत्या, "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" इतिश्रुतिबोधितस्त्वं तस्यानुभूतिः, विदितादविदितादन्यदेवेति, तया सन्मात्रमिदमनुभूतं तत्त्वं

प्रमेय चैतन्य स्वरूप दृश्य, अदृश्य धर्म एवं भाव में सद्रूपता त्वम् इस स्वानुभूति से होती है वास्तविक सत्यता नहीं है, शून्यता नहीं मानी जा सकती है, सभी भाव पदार्थों में यह नहीं, यह नहीं इस रूप में चिद्रूपता ही अवशिष्ट रहती है, त्वं चिद्रूप काथ वेत्ता अवशिष्ट रहता है ॥ १२ ॥

यह जिज्ञास्य है कि सम्यग् विवेक होने पर इस दृश्य जगत् को किस रूप में अवगत करना चाहिए ? इस आशङ्का के उत्तर में यह कहा गया है :—

कारण पूर्वक महाभौतिक में आतमरूप दृश्य चैतन्य के व्यक्त होने पर जैसे बढ़ई के द्वारा निर्मित नौका का खण्ड होने पर शिल्प के निमित्त कारण अनेक पदार्थों का दृश्य धर्मत्व होता है, वैसे ही प्रमेय, प्रमाण, प्रमाता की सत्ता से अतिरिक्त रूप में चैतन्य की अनुभूति होने से सभी की मायानिमित्तक उत्पत्ति अवगत होती है। उस ज्ञात अथ अज्ञात से अतिरिक्त ही चैतन्य है, इस श्रुति से बोधित

भवेत्यर्थः। सत्तातिरिक्तपदार्थाभावात् ज्ञातृज्ञानज्ञेय-व्यवहाररहितं सदिति किं न किमपि शून्यमेव इति चेन्न, एतच्छून्यं सर्वाभावत्वं भावे प्रतीयमानत्वात्। सत्ताश्रयि तत् शून्यं शून्यं कृत्वा चिद्रूपत्वात्; शून्यं शून्यस्वरूपं सच्चिन्मात्रं तत्स्वरूपत्वात् त्वं चिद्रूपः जगद्भावाभाव-साक्षी मायाविद्यारोपितशिवजीवोपाध्योर्वेत्ता, तदपवादे अवशिष्ट इत्यर्थः॥ १२॥

अध्यारोपापवादरहितोऽसीत्यर्थः। एतादृशे—

अन्तर्बाह्ये चित्त्वसत्त्वे त्यज द्वे
स्वानन्दैक्यं केवलं त्वम्भव स्वम्।

त्वं चैतन्य की अनुभूति होती है, विदित और अविदित से वह अन्य है, उस अनुभूति से सत् स्वरूपमात्र तत्त्व है यह अवगत होता है। सत्ता के अतिरिक्त पदार्थ न होने से ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय व्यवहार-रहित सत् ही एकमात्र है, किन्तु यह आशङ्का होती है कि वह शून्य ही है, कुछ भी नहीं है, यह क्यों नहीं माना जाय। यह शून्य सब की अभावरूपता है जो भाव के रूप में प्रतीयमान है, अतः चैतन्य रूप भावत्व ही शून्यत्व है। सत्तामात्र का आश्रयण करनेवाला शून्य ही शून्य है, क्योंकि, वह चित्स्वरूप है। शून्य शून्य स्वरूप है, सत्, चित् की ही शून्य स्वरूपता होने से त्वं चित् रूप है, जगत् के भाव और अभाव का साक्षी माया और अविद्या से आरोपित शिव और जीव रूप उपाधियों का वेत्ता है, क्योंकि उपाधि के बाधित होने पर चैतन्य ही अवशिष्ट रहता है॥ १२॥

अध्यारोप और अपवाद से रहित यह काथ चैतन्य है।

अन्तः और बाह्य में चित्त्व सत्त्व आत्मानन्द स्वरूप तुम ही जड और शून्य ग्राहक चित् और सदाभास का परित्याग करो, चैतन्य

तद्रूपत्वादद्वयं तत्त्वन्तत्त्व-
वेत्ता कोऽस्मिन्कस्य वेत्तृत्वमस्ति ॥ १३ ॥

ननु निदिध्यासनं कर्तव्यं न वा, सति सामर्थ्ये अविकल्पत्वेन स्थेयमिति। अन्तः अन्तरे; चन्द्रास्ते अनुदितसूर्ये अन्तःकुम्भकदहराकाशे। सूर्यास्तेऽनुदितचन्द्रे द्वादशान्ते बाह्यकुम्भके। व्यक्ताव्यक्तातीतसर्वान्तरः सर्वसाक्ष्यहमित्यन्तरं तस्मिन् चिदाकारवृत्तित्वं चित्त्वम्, तत्स्वानुभूत्या व्यक्ताव्यक्तात्मकं सर्वं बाह्यम्, तत्सन्मात्रोऽहमित्युदारो भव। चतुष्टयव्यावृत्त्या सदिति सदाकारवृत्तित्वं सत्त्वं सन्मात्रे वृत्त्यभावात्। ते चित्त्वसत्त्वे द्वे जडशून्यग्रासके चित्सदाभासे त्यजेत्यर्थः। जडशून्यव्यावृत्तौ दुःखतमोग्रासकं विज्ञानमानन्दमात्मेति श्रुतिश्रवणेन स्वानन्दैक्यम्, आनन्दमात्रेणाविकल्प-

---

रूप होने से अद्वय स्वरूप तुम ही तत्त्व वेत्ता के सम्मुख और दूसरा क्या रह जाता है—जिसका ज्ञातृत्व तुम में रहे ॥ १३ ॥

निदिध्यासन करना चाहिए या नहीं, सामर्थ्य रहने पर अविकल्प रूप से रहना चाहिए। अन्तः = अन्तर में, चन्द्र के अस्त, सूर्य का उदय न होने तक अन्तः कुम्भक दहर आकाश में, सूर्यास्त और चन्द्र के उदय न होने तक द्वादशान्त में बाह्यकुम्भक में, सर्वसाक्षी मैं इस अन्तर में चिदाकार वृत्तित्व अर्थात् चित्त्व की स्वानुभूति व्यक्त और अव्यक्त सभी बाह्य उस सद्रूप में प्रतीत होता है, अतः सद्रूप मैं हूँ, इस प्रकार उदार हो। प्रमाणादि चारों की व्यावृत्ति होने पर सत् यह सदाकार वृत्तित्व सत्त्व रहता है, क्योंकि, सत् मात्र में वृत्ति नहीं होती है। वे चित्त्व और सत्त्व दोनों जड़ और शून्य के ग्राहक हैं चित् और सत् के आभास का परित्याग करो। जड़ और शून्य से व्यावृत्त दुःख और तम के ग्राहक विज्ञान आनन्दस्वरूप आत्मा है, इस श्रुति के अनुसार स्वानन्द की एकता, आनन्दमात्र अविकल्प

स्वरूपेण सहात्मैक्यं दुःखात्यन्ताभावात् आनन्द एवास्मीत्यानन्दावभासवृत्तित्यागेन केवलम् आनन्द-मात्रम्भवेत्यर्थः। हरिहरसमाधिस्वरूपत्वात्। ननु काष्ठात्यन्तदाहोत्तरं ज्वालात्यागः स्वयमेव भवति। तत्र त्यज इति असमञ्जसमिति चेन्न "येन त्यजसि तं त्यजे"ति मोक्षधर्मोक्तेः। अभ्यासादानन्दमयो ब्रह्मेति केषाञ्चिद् भ्रमः, मयटः प्राचुर्यत्वान्निर्देश्यानन्दमयस्य व्यावृत्तिद्वारा "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठे" त्युपसंहारबलात् "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे"ति श्रुतिप्रतिपादकत्वमा-निर्देश्यब्रह्मण इति तैत्तिरीयभाष्ये उक्तत्वात्। तद्रू-पत्वात्-अतो निरसनेन तत् ब्रह्मरूपत्वात् तत्त्वं न

स्वरूप के साथ आत्मा की एकता के होने से दुःख का अत्यन्त अभाव हो जाता है और आनन्दस्वरूप मैं हूँ, इस आनन्द अवभास की वृत्ति का परित्याग हो जाने से केवल आनन्दमात्र हो—यह आशय है। क्योंकि, हरिहर समाधि स्वरूप है।

यदि यह कहा जाय कि काष्ठ के अत्यन्त दाह के बाद ज्वाला स्वयं शान्त हो जाती है, अतः, त्यज = छोड़ो यह कथन समीचीन नहीं है। जिसे त्याग करते हो उसको छोड़ो—यह मोक्षधर्म कहा जाता है। अभ्यास से आनन्दमय ब्रह्म होता है—यह किसी को भ्रम हो सकता है, प्राचुर्य्य अर्थ में आनन्द शब्द से मयट् का विधान है, आनन्द का प्राचुर्य्य अर्थात् अनन्त आनन्दरूपता विवक्षित है, विकार आदि अर्थ में मयट् प्रत्यय कर आनन्दमय की व्यावृत्ति के द्वारा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा, अर्थात् ब्रह्मस्वरूपता की प्राप्ति की विवक्षा होने से इस उपसंहार वाक्य के अनुसार जहाँ मन और वाणी की गति नहीं है—इस श्रुति के द्वारा ब्रह्म की अनिर्देश्यता प्रतिपादित की गई है—यह तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य में कहा गया है, तद्रूपत्वात् अर्थात् इतर की निवृत्ति के द्वारा ब्रह्मरूपता होती है—यह तत्त्व है अन्य

परमार्थतः तेन ब्रह्मणाऽद्वयस्त्वमसीत्यखण्डवाक्यार्थः। न तु संसर्गविशिष्ट इत्यर्थः। अस्मिन्नद्वयानन्दमात्रे को वेत्ता न कोपि, वेत्त्रभावात् कस्य वेद्यत्वं न कस्यापि, निर्धर्मके आरोपितवृत्त्यभावात्। अस्ति चेत्स्वयं स्वस्य वेद्यं वेदनं वेत्ता, स्वविषये प्रमाणप्रमेयप्रमातृत्वत्यागादित्यर्थः। अत एवाऽविकल्पस्वरूपम् "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तये"दित्युक्तेः॥ १३॥

एवम्भूते शुद्धबुद्धे स्वरूपे
काथावस्थां ब्रूहि मे त्वम्प्रबुद्धः।

की परमार्थता नहीं है, इसीलिए ब्रह्म से तुम अभिन्न हो यह अखण्ड वाक्यार्थ होता है, संसर्ग विशिष्ट वाक्यार्थ को प्रतीति नहीं होती है। इस अद्वय आनन्दमात्र की स्थिति में कौन वेत्ता है--अर्थात् कोई भी नहीं रहता है। क्योंकि, वेत्ता के अभाव में किसको वेद्यता है, अर्थात् किसी की भी नहीं रहती है, क्योंकि, निर्धर्मक में आरोपित वृत्ति नहीं रह सकती है। यदि वृत्ति मानी भी जायगी तो स्वयं ही स्व का वेद्य वेदन और वेत्ता होगा, क्योंकि अपने विषय में प्रमाण, प्रमेय और प्रमातृ नहीं रह सकता है। इसीलिए अविकल्प स्वरूप माना गया है, आत्मसंस्थित मन कर किसी प्रकार की वस्तु का चिन्तन करे--यह कहा गया है॥ १३॥

'एवम्भूते' अर्थात् प्रर्वोक्त ब्रह्मस्थिति भूत अनुभव विषय शुद्ध बुद्ध अर्थात् प्रकृति विकृति रहित स्वप्रकाश ज्ञान सम्पन्न ब्रह्मज्ञान होने पर, स्वरूप अर्थात् स्वयं जिसका स्वरूप हो गया है।

इस प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त ब्रह्मस्थिति में प्रकृतिविकृतिरहित स्वप्रकाशकाल में काथ की अवस्था को (प्रकृष्ट ज्ञानवान् आप के द्वारा मैं सुनना चाहता) प्रकृष्ट ज्ञानवान् आप कहें, काथवेत्ता मैं

काथावेत्ता कोऽहमित्यात्मबाधः

निःसङ्गेऽस्मिन्नुत्थिता त्वय्यविद्या ॥ १४ ॥

एवम्भूते-पूर्वोक्तब्रह्मस्थितिभूते अनुभवारूढे-शुद्ध-बुद्धे-शुद्धश्च प्रकृतिविकृतिरहितं तत् बुद्धश्च स्वप्रकाशज्ञानं तस्मिन्। स्वरूपे स्वश्च तद्रूपं तस्मिन्। विश्वविश्वान्तकाले काऽवस्थेति-पृच्छकः मम वाक्यश्रवणजज्ञानेन प्रबुद्धः प्रकृष्टबोधवान् त्वमेवेदानीं मे मां प्रति ब्रूहि वदेत्यर्थः। तत्रावस्थातीते किञ्चिदसि चेदत आह-काथवेत्तेति। न किमपि वेद्यवेदनवेत्तृत्वाभावात्। मित्रमुखेन भगवता परिहासव्याजेनोक्तं सत्यमप्यबुद्धाऽज्ञानाभिमाननिमित्तका काथावस्था कोहमितिप्रत्ययलक्षणा पृच्छा हेत्वावरणविक्षेपशक्तिरूपाऽविद्या। कुत चेत् चिदघने त्वयि

कौन हूँ--निःसङ्ग चिद्घनस्वरूप तुम में कैसे यह आवरणस्वरूप अविद्या उत्पन्न हुई ॥ १४ ॥

एवम्भूत अर्थात् पूर्वोक्त ब्रह्मस्थिति भूत अनुभवारूढ शुद्ध-बुद्ध स्वरूप में अर्थात् शुद्ध अर्थात् प्रकृतिविकृतिरहित बुद्ध अर्थात् स्वप्रकाश ज्ञान उसमें (उस स्वरूप में) स्वरूप अर्थात् स्व और उसका रूप उसमें विश्व विश्वान्तकाल में कौन अवस्था रहती है--यह पूछने मेरे वाक्य के श्रवण ज्ञान से प्रबुद्ध अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञान से सम्पन्न तुम हो अतः इस समय मेरे लिए तुम उसको कहो--यह अर्थ है। उस अतीत अवस्था यदि कुछ है तो तुम उसको कहो, क्योंकि, तुम काथ के ज्ञाता हो। ज्ञानयोग्य, ज्ञान और ज्ञातृत्व के अभाव में कुछ भी नहीं रहता है। मित्रभाव से भगवान् ने परिहास के व्याज से कहा सत्य होते हुए भी अबुद्ध अज्ञान एवं अभिमान निमित्तक काथ अवस्था में कौन हूँ--इस प्रकार ज्ञानस्वरूपा जिज्ञासा आवरण और विक्षेप स्वरूप अविद्या की जिज्ञासा है। किस प्रकार चैतन्य घने

उत्थिता तया स्वविषयाश्रयित्वबलेनावृतोऽसि खे नीलिमेव स्थाणौ पुंभ्रम इव आत्मबाधः आत्मनो निःसङ्गस्यावरणम् अघटनघटनपटुत्वात् तव ॥ १४ ॥

शून्यालम्बाऽलम्बनं सा भवेत्ते
सूर्याभायां वारिभासस्तथेयम् ।
भिन्नाभिन्ना नैव तस्मादवाच्या
जह्येनां स्वामद्वयानन्दबोधात् ॥ १५ ॥

विक्षेपावरणाऽत्यन्ताभावत्वान्निःसङ्गस्य ते तव शून्यालम्बालम्बनं—शून्यालम्बस्य आश्रयाश्रयिभावनिरस्तस्य आलम्बनम् आश्रयि, आच्छादनमभवदित्यर्थः। कथमिति ? चेदित्थम्। यथा, सूर्याभायां सूर्यस्या-

---

स्वरूप तुममें यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई एवम् अपने आश्रयित्व के कारण आवृत हो आकाश में नीलिमा के समान मिट्टी की ढेर स्थाणु में पुरुष के भ्रम के समान आत्मा का वाध अर्थात् निःसङ्ग आत्मा का आवरण है अघटन घटना में अविद्या की पटुता के कारण ॥१४॥

आश्रय एवम् आश्रयिभाव से रहित का आलम्बन अर्थात् आवरण तुम्हारा होता है। जैसे सूर्य की किरणों से जल का आभास (मरुभूमि में) होता है। वैसे ही—यह है। अतः तत्स्वरूप = उससे अभिन्न और उससे भिन्न अर्थात् विलक्षण, सती, असती या उभयात्मिका नहीं कह सकते हैं, अपने अद्वय आनन्दबोध से इसका परित्याग करो ॥ १५ ॥

विक्षेप और आवरण अत्यन्ताभावस्वरूप होने से असङ्ग तुममें अर्थात् आत्मा में शून्याधार ही आलम्बन है। शून्यालम्बन के अर्थात् आश्रयाश्रायिभाव के निरस्त का आलम्बन = आश्रयी अर्थात् आच्छादन हुआ। इस तरह कैसे हुआ ? इस प्रकार हुआ, जैसे सूर्य की किरण में सूर्य की चारो ओर आभा अर्थात् दीप्ति उसमें जल

ऽऽसमन्तादाभा प्रकाशना तस्यां वारिभासः। तथेयं विवर्त्तरूपा यस्य सन्मात्रस्य विवर्त्तः तस्माद् भिन्नाभिन्ना तदात्मिका तद्विलक्षणा वा, सत्यसती उभयात्मिका तद्विलक्षणा वा, सावयवा निरवयवा तदुभयात्मिका विलक्षणा वा, न अनिर्वचनीयत्वात्। एवमद्वितीये ब्रह्मणि परमार्थभाववद्द्रव्यासम्भवात्। तस्मादेषाऽवाच्या। कथमिति चेत्। ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वहानेर्भिन्ना न "विश्व-मायानिवृत्तिरि"ति श्रुतेः। अभिन्ना न "मायामेतान्त-रन्ती"ति श्रवणात्। भिन्नत्वाभिन्नत्वे परस्परप्रतियोगि-त्वात् नोभयस्वरूपा। भिन्नाभिन्नपदार्थयोर्विलक्षण-पदार्थात्यन्ताभावात् तद्विलक्षणा न। सतीति चेन्न "न सदासीदि"ति श्रुतेः। सांख्यप्रधानशब्दवन्नेतीत्यर्थः।

भासमान होता है वैसे ही यह विवर्त रूप है जिसका सत्मात्र का विवर्त है, उससे भिन्न अभिन्न अर्थात् तत्स्वरूप या उससे विलक्षण, सद्रूपा या असद्रूपा उभयात्मिका या उससे विलक्षणा, सावयवा या निरवयवा उभयात्मिका या उससे विलक्षणा नहीं है, अनिर्वचनीय होने से। इसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्म में परमार्थ भाववान् द्रव्य के असम्भव से है। इसलिए यह अवाच्य है। अवाच्य कैसे है? ब्रह्म के अद्वितीयत्व की हानि होगी, अतः भिन्न नहीं है, क्योंकि, विश्वमाया की निवृत्ति होती है--यह श्रुति में कहा है। अभिन्न भी नहीं है, इस माया का सन्तरण करता है--यह कहा गया है। भिन्नत्व और अभिन्नत्व रूप नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, परस्पर यह प्रतियोगी स्वरूप है, अतः, उभयस्वरूप नहीं हो सकता है। भिन्न और अभिन्न पदार्थों में विलक्षण पदार्थ का अत्यन्ताभाव होने से उससे विलक्षण नहीं हो सकता है। सत् स्वरूप माया को नहीं कहा जा सकता है, वह सत् नहीं है--यह श्रुति में कहा गया है। सांख्यसिद्धान्त के प्रधान शब्द के समान वह नहीं हैं। असत् भी अविद्या को नहीं कहा

असतीति चेन्न "नासदासीदि"ति श्रुतेः असत्पदार्थस्याप्रतीतेः। अनादिमायातरणे व्यासादिसत्तायामप्रवृत्तिः स्यात्। "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" इति भगवता साधनं नोक्तं स्यात्। तन्निमित्तसुखदुःखानुभवो न स्यात्। तर्हि सदसदात्मिका स्याच्चेन्न, परस्परविरुद्धधर्मत्वात्, तयोर्विलक्षणपदार्थशून्यत्वात्। निरवयवास्त्विति चेन्न, निरवयवकारणस्य सावयवजगत्कार्यासम्भवात्। तत्र तार्किकाः निरवयवपरमाणोः सावयवद्व्यणुकादिकं कार्यं भवत्येवेति चेन्नद्व्यणुकादि पृथिव्याश्चरमावयवत्वात् परमाणुश्चासावयवो भवति। तत्र कार्यस्य सम्भवः। न तु चरमावयवव्यक्तशून्यमहत्परिमाणविशिष्टमायायाः सावयवकार्यासम्भवात्, अणुत्वपरिमाणशून्यत्वात्।

जा सकता है, वह असत् नहीं है--यह श्रुति के अनुसार असत् पदार्थ की अप्रतीति होने से। अनादि माया के सन्तरण में व्यास आदि की सत्ता में अप्रवृत्ति होगी। मेरे प्रति जो प्रपन्न होते हैं, वे इस माया का सन्तरण करते हैं--अन्यथा इस साधन को गीता में भगवान् ही कहते। तन्निमित्तक सुख और दुःख का अनुभव भो नहीं होता। सत् और असत् स्वरूप माना जाय, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म है, अतः एक में नहीं रह सकते हैं, उनकी विलक्षण पदार्थ शून्यता भी है। अविद्या को निरवयव भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, निरवयव कारण का सावयव जगत् रूप कार्य सम्भव नहीं है। तार्किको के मत में निरवयव परमाणु से सावयव द्वयणूक् आदि कार्य होते हैं, यह भी नहीं कह सकते हैं, द्वयणुक आदि पृथिवी के चरम अवयव हैं और वे परमाणु सावयव होते हैं। इसलिए वहाँ कार्य सम्भव हैं, चरम अवयव व्यक्त शून्य महत् परिमाण विशिष्ट माया का सावयव कार्य नहीं हो सकता है। अणुत्व परिमाण से शून्य होने से। ऐसी स्थिति में इसे सावयव माना जाय,

तर्हि सावयवास्त्विति चेन्न "महतः परमव्यक्तमव्यक्ता-
त्पुरुषः पर" इति श्रुतेः। अव्यक्तत्वाच्च सावयवा वक्तुम-
शक्या भवेत्। सावयवास्त्विति चेन्न, सावयवनिरवय-
वयोः परस्परप्रतिकूलत्वात्। तद्विलक्षणेति वा निरवयवा
चेन्न, उभयविलक्षणपदार्थाभावात्। एवं द्वादशविकल्प-
शब्दाऽविषयत्वात् अवाच्या—न वाच्या न निर्वचनं यस्याः
सा। अनिर्वाच्येति—गुरुशास्त्रात्मप्रतीत्या ज्ञात्वा एनाम्
अतात्त्विकाऽन्यथाभावविवर्त्तेत्यनुभूतां जहीत्यर्थः।
कस्मादिति चेत्। अद्वयानन्दबोधात्—भोक्तृत्वादिद्वि-
तीयस्यात्यन्ताभावात्। अद्वयश्चासावानन्दश्चासौ बोध-
स्तस्मात् स्वाश्रयां स्वविषयाम्। स्वकीयां स्वां—स्वबोधे-
नैव रज्जुबोधेन रज्जुसर्पस्येवाऽन्तं गच्छेत्यर्थः। "नान्यः

महत् से परे अव्यक्त अव्यक्त से परे पुरुष है—यह श्रुति में कहा गया है। अव्यक्त होने से उसको सावयव नहीं कह सकते हैं। सावयव ही हो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, सावयव और निरवयव परस्पर विरुद्ध है, उससे विलक्षण या निरवयव है यह भी नहीं कहा जा सकता है, दोनों से विलक्षण पदार्थ सम्भव नहीं है। इस प्रकार बारह विकल्प शब्दों का अविषय होने से, अवाच्य अर्थात् जिसका निर्वचन नहीं किया जा सकता है, यह भी नहीं कह सकते हैं। अनिर्वाच्य अर्थात् गुरु के द्वारा शास्त्र तत्त्व की प्रतीति अर्थात् ज्ञान से इसको अर्थात् अतात्त्विक अन्यथा भाव रूप विवर्त इस अनुभूति का परित्याग करें। क्यों परित्याग करे ? इसके समाधान में कहा है कि अद्वय आनन्द के बोध से अर्थात् भोक्तृत्व आदि द्वितीय का अत्यन्ताभाव होने से। अद्वय और आनन्द जो बोध स्वाश्रय या स्वविषयक स्वरूप ज्ञान से। स्वाम् अर्थात् स्वकीय स्वबोध से अर्थात् रस्सी के ज्ञान से ही रस्सी में सर्प के भान का नाश हो जाता है, क्योंकि, स्वरूप ज्ञान से अतिरिक्त और कोई भी

पन्था विद्यतेऽयनाये”ति श्रुतेः। “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती”ति श्रुतेश्चेति दिक्॥ १५॥

वेद्याभावे कस्य वेत्ताऽत्र कोऽसौ
वक्ष्याम्यस्मिन्भाषणं मे शृणु त्वम्।
काथेत्यस्याः सा न भाति त्वमेकः
सद्बोधार्थं वाक्यमेतत्प्रवृत्तम्॥ १६॥

तर्हि वेद्याभावेति—वेद्याभावे वेद्यविषयादर्शनकः असावयमात्मा अत्राद्वयानुभवे कस्य विषयस्य वेत्ता ज्ञाता, किन्तु ज्ञेयज्ञातृत्वाभावान्न कोऽपीत्यर्थः। तर्हि किमर्थं काथवेत्तासीति वाक्यप्रयोगः अस्मिन्विषये अहं त्वां ब्रवीमि, मे मम भाषणं शृणु। काथः—काथइति—का-

---

मार्ग मोक्ष का नहीं है--यह श्रुति वाक्य होने से, ब्रह्मज्ञ ब्रह्म ही हो जाता है--यह श्रुति वाक्य होने से॥ १५॥

वेद्यवस्तु के अभाव में किसका यहाँ कौन ज्ञाता रहता है, इस विषय में मैं कहूँगा मेरे कथन को तुम सुनो का से प्रतिपाद्य प्रातिभासिकसत्ता से अभिन्न का नाश हो जाने से जीव एक रूप में सद् रूप में अवगत होता है--इसी के ज्ञान के लिए यह वाक्य प्रवृत्त होता है॥ १६॥

इस समय वेद्य का अभाव रहता है, वेद्य के अभाव में वेद्यविषय का अदर्शनात्मक वह यह वह आत्मा है--इस प्रकार अद्वय अनुभव होने पर किस विषय का ज्ञाता (रहेगा) किन्तु ज्ञेय और ज्ञाता के अभाव से कोई भी नहीं रहता है--यह अर्थ है। यदि कोई भी ज्ञाता नहीं है तब तुम काथके वेत्ता हो--यह प्रयोग कैसे होता है? इस विषय में मैं तुम से कहता हूँ, तुम मेरा भाषण सुनो। ‘काथः’ अर्थात् ‘का इति’ का शब्द से प्रतिपाद्य पुरुष की यह प्रातिभासिक सत्ता से अभिन्न ईश्वरोपाधिस्वरूप है। ‘व्यथतीति’ थः यह संसारमय जीवों

शब्दप्रतिपाद्यपुरुषस्येयं प्रातिभासिकसत्ताऽभिन्ना ईश्वरोपाधिस्वरूपा । व्यथतीति–थः संसृतिभयमुत्पादयति जीवानां यथा–सूर्येऽन्धकारस्वरूपत्वमिवोलूकदृष्टिवत् जीवेश्वरोपाधिरूपस्वरूपोन्मुखस्फुरणद्वयलक्षणा बन्धमुक्तिहेतुका अस्याः काथसंज्ञकमायायाः स्वस्याः स्वयं सा माया भाता प्रकाशिका न जडत्वात् । तर्हि अस्याः प्रकाशकः क इति चेत् ? त्वं त्वमेवालम्बनं साक्षी सर्वाश्रय एकोऽद्वितीयः भासकोऽसीत्यर्थः । एतदर्थं काथवेत्तासीति वाक्यप्रयोगः । "सदेव सोम्येति" श्रुत्युक्तः सतो बोधः सद्बोधस्तदर्थम् । सद्बोधार्थं वाक्यं–काथवेत्ताऽसीति प्रवृत्तम् । एतत् पूर्वमुल्लेखितं सद्बोधितुमित्यर्थः ॥ १६ ॥

सन्मात्रोऽहं सत्तया सर्वमेकः
क्रोधघ्नाऽस्याः काथविद्यापराऽन्या ।

के लिए उत्पादन करता है। जैसे, सूर्य में अन्धकार स्वरूपत्व के समान उल्लू की दृष्टि की तरह जीव और ईश्वर की उपाधि रूप स्वरूप उन्मुख बन्ध और मुक्ति साधन रूप स्फुरणद्वयस्वरूप इस काथ संज्ञक माया का अपना अर्थात् स्वयं वह माया भाता = प्रकाशिका नहीं है, क्योंकि, जडस्वरूप होने से, ऐसी स्थिति में इसका कौन प्रकाशक है ? इस प्रश्न के उत्तर में तुम ही आलम्बन साक्षी सभी का आश्रय एक अद्वितीय भासक हो––यह अर्थ है, इसी के लिए काथ का वेत्ता हो––यह वाक्य प्रयोग होता है। हे सोम्य ! तुम सत्स्वरूप हो । यह श्रुति में कथित सत् का बोध सद्बोध अर्थात् सत् के बोध के लिए, सत्बोधक वाक्य काथवेत्ता हो–यह प्रवृत्त हुआ है, यह पूर्व में उल्लिखित सत् के स्वरूप बोध के लिए–यह अर्थ है ।१६।

मैं सन्मात्र स्वरूप हूँ और सत्ता के रूप में सब एक है, इसके विषयत्व की असिद्धि से यह विद्या क्रोध का नाशक है, इसके अनन्तर

चिन्मात्रोऽहं चित्स्वरूपश्चिदात्मा
सृष्ट्यन्तानां साक्षिरूपोऽव्ययोऽहम् ॥ १७ ॥

सन्मात्र इति। अस्मिन् श्लोके पूर्वप्रश्नत्रयाणां प्रत्येकत्वेन प्रत्युत्तरमाह—काथवेत्ता काथोपाध्यभावेऽवशिष्ट इत्यभावशून्यो यः सन्मात्रः सोऽहम्, न तु शून्यमसन्मात्रं तत् सत्तया मम सन्मात्रस्य प्रातिभासिकव्यावहारिकसत्ता तया सर्वमस्तीति प्रतीयमानत्वात्, सद्भिन्नं नास्तीति प्रतीतेश्च सर्वत्रैवैकोऽहमित्यनुभवः। "पुरुष एवेदं सर्वमि"ति, "वासुदेवः सर्वमि"ति च श्रुतिस्मृती। ब्रह्मणि गुरुतः श्रवणमननिदिध्यासनबलात् दृढश्चेत् पूर्णकामस्तस्मात् कामाभावत्वहेतुक्रोधाभावत्वात् सद्विद्येयम्। अत एव क्रोधघ्ना—क्रोधं हन्तीति क्रोधघ्ना

उत्कृष्ट अन्य कौन-सी काथविद्या है। (इसके समाधान में कहा है) मैं चिन्मात्र चित्स्वरूप, चिदात्मा हूँ, सृष्टि और प्रलय का साक्षी स्वरूप मैं सर्वथा विकाररहित हूँ॥ १७॥

इस पद्य में पूर्व के तीन प्रश्नों में प्रत्येक का उत्तर कहा गया है। 'काथवेत्ता' काथरूपी उपाधि के अभाव में अवशिष्ट अर्थात् अभाव शून्य जो सत्स्वरूप है—वह मैं हूँ, मैं शून्य असद्रूप नहीं हूँ, क्योंकि, सत्ता के द्वारा मेरे सन्मात्र का प्रातिभासिक व्यवहारिक सत्ता से सभी पदार्थों सद्रूप में प्रतीति होने से और सत् से अतिरिक्त कुछ नहीं है—यह प्रतीति होने से सर्वत्र मैं एक हूँ, यह अनुभव होता है। पुरुष ही सब कुछ है, वासुदेव ही सब है—यह श्रुति और स्मृति में प्रतिपादित होने से।

ब्रह्म विषयक गुरुमुख से श्रवण, मनन और निदिध्यासन के बल से दृढ होने पर पूर्णकाम होने से काम का अभाव होने से क्रोध का अभाव होता है—यह सद् विद्या है। इसीलिए क्रोधघ्न = क्रोध को

विषयत्वाऽसिद्धेश्च अस्या विद्यायाः। अथाऽनन्तराऽन्या परा उत्कृष्टा विद्याऽज्ञानप्रतियोगिन्यात्मवेदनाभिव्याञ्जिका, काऽस्ति ? किन्तु न कापीयमेवास्तीत्यर्थः, इति क्रोधघ्नविद्याप्रत्युत्तरम्। विश्वविश्वान्तकाले काऽवस्थेति प्रश्नोत्तरमाह—चिन्मात्रोऽहं— क्षेत्रजडांशव्यावृत्तिका चिद्वृत्तिस्तयाऽहं चिन्मात्र इत्यनुभवः। तस्य स्वरूपं किमिति चेत् ? चित्स्वरूपः-चिच्च तत्स्वं चित्स्वरूपमेव चित्स्वरूपः। किंलक्षणश्चिदात्मा-चित्स एव क्षेत्रमततीति क्षेत्रभातित्वात्। पुनः कीदृश-सृष्टयन्तानां "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इति श्रुत्युक्ताः खादिभूतानां सृष्टयो भूतानां प्रतिलोमेन स्वकारणेषु लयाः। अतो यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ती"ति श्रुतिबोधितास्तेषां साक्षीति

नाश करने वाला एवं इस विद्या के द्वारा विषयत्व की असिद्धि होती है। इसके बाद पर = उत्कृष्ट विद्या अज्ञान प्रतियोगी आत्मवेदन का अभिव्यञ्जक कौन है ? और कोई भी नहीं हैं––यही है, इस प्रकार क्रोध की नाशिका अविद्या है––यह उत्तर है। विश्व और विश्व के अन्त के समय कौन अवस्था रहती है––इसका उत्तर कहा जा रहा है। मैं चिन्मात्र स्वरूप हूँ क्षेत्र और जडांश का व्यावृत्त करने वाली जो चिद्वृत्ति उसके द्वारा मैं चिन्मात्र हूँ––यह अनुभव होता है। उसका क्या स्वरूप है ? उसका चित्स्वरूप है। चित् और स्व, चित्स्वरूप ही चित्स्वरूप है। चिदात्मा का क्या स्वरूप है ? वह चित् ही जीव को व्याप्त करता है, क्षेत्र का प्रकाशक होने से। पुनः कैसी सृष्टि और अन्त (प्रलय) का जिससे ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं––इस श्रुति के द्वारा कथित आकाश आदि भूत पदार्थों की सृष्टि और प्रतिलोम क्रम में अपने कारणों में लय, इसीलिए, जिसमें लय प्राप्त करते हैं कारण स्वरूप में अवस्थित होते हैं उनका साक्षी–यह तटस्थ लक्षण वाला है जगत् का कारण मैं हूँ। प्रथम निदिध्या-

तटस्थलक्षणकः तद्रूपो जगत्कारणोऽहमिति, प्रथमं निदिध्यासनं गुर्वनुगृहीतस्य पूर्वोक्तं तत्पश्चात्कर्तव्यम् । तर्हि उपादानकारणस्य ब्रह्मणो मृद्राशेरिव मृद्भाण्डकरणे व्ययस्तथाऽस्त्विति चेन्न अव्ययः–द्रव्यत्वगुणत्वाभावान्न व्ययो यस्येत्यर्थः । अविक्रियत्वात्स्वरूपोऽहम् ॥ १७ ॥

एवं भूते काऽथ शुद्धास्त्यवस्था
व्यक्ताव्यक्तातीतमन्तर्वहिःस्थम् ।
व्यक्ताव्यक्तं तन्न बाह्यान्तरे द्वे
मौनेनाऽयं वाचकस्त्र्यक्षरोऽस्य ॥ १८ ॥

एवमुक्तप्रकारेण भूते ममोपदेशजज्ञानेनाऽनुभवप्राप्ते । अथ जडव्यावृत्त्यनन्तरं काऽवस्था ? विश्वविश्वान्त-

---

सन अर्थात् गुरु से अनुगृहीत का स्वरूप ज्ञान अनन्तर। ऐसा माननेपर मिट्टी का जैसे मिट्टी के पात्र के निर्माण में व्यय होता है, उसी प्रकार उपादान कारण ब्रह्म का व्यय होना चाहिए। अव्यय अर्थात् द्रव्य और गुण न होने से उसका व्यय नहीं होता है। अविक्रिय होने से स्वरूप ही स्थिर रहता है ॥ १७ ॥

इस प्रकार काथ यह शुद्ध अवस्था है, यह व्यक्त और अव्यक्त से अतीत अन्तः और बहिः अर्थात् अन्दर और उभयत्र एक रूप में अवस्थित है व्यक्त और अव्यक्त ये दोनों अन्दर और बाहर एक रूप में अवस्थित नहीं है, मौनरूप से तीन अक्षर 'ॐ' है। इसका वाचक है ॥ १८ ॥

इस प्रकार होने पर मेरे उपदेशजन्य ज्ञान से अनुभव की प्राप्ति होने पर। अथ जड की व्यावृत्ति के बाद कौन अवस्था रहती है ? सम्पूर्ण विश्व के अन्तकाल में अर्थात् लीन अवस्था होने पर शुद्ध

काले शुद्धा निर्मलास्तोति, ममानुग्रहेण सर्वज्ञस्त्वं पश्य न कापीत्यर्थः। अवस्थातीतब्रह्मैव शान्तिः। का इति पृछायाः प्रत्युत्तरमाह–व्यक्ताव्यक्तातीतं-व्यक्तं माया-कार्यं त्रयोविंशतितत्त्वसङ्घातम्, चर्तुविंशतत्त्वमव्यक्तं माया भगवच्छक्तिर्जीवभूता, तयोः साभासयोरतीतं भिन्नं निराभासत्वात्। तद्व्यक्ताव्यक्तं यस्माद्भिन्नं न तदाश्रयं तत्सत्ताकत्वात्। तदन्तर्बहिःस्थम्–अन्तरं च बहिश्च। यथेक्षुरसगुडशर्करादिषु तथान्तरे स एव रसः, सूदशिल्पिनिमित्तरूपस्पर्शादित्वेन बहिस्तथा तयोरन्तर्बहिरस्तिभातिप्रियत्वेन स्थितमपि व्यक्ताव्यक्तं न, यथा जलमपि समुद्रो नाश्रयधर्मत्यागात्। तथा तत्स्वरूप-

---

निर्मल अवस्था होती है, मेरे अनुग्रह से सर्वज्ञस्वरूप तुम देखो कुछ भी नहीं रहता है। अवस्था से परे ब्रह्म ही शान्ति है। वह शान्ति क्या है ?, इस जिज्ञासा के उत्तर में कहा गया है व्यक्त और अव्यक्त से अतीत है। तो इन तत्त्वों का सङ्घात मायाकार्य व्यक्त है, चौबीसवाँ तत्त्व अव्यक्त है, माया भगवान् की शक्ति जीवात्मिका है, उन साभास तत्त्वों से अतीत अर्थात् भिन्न है, क्योंकि स्वप्रकाशस्वरूप होने से निराभास होने से। तत् अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त जिनसे भिन्न उनके आश्रित नहीं, क्योंकि व्यक्त और अव्यक्त उसकी सत्ता पर ही आश्रित हैं ये उसी के प्रकाश से अस्तित्व लाभ करते हैं। वह भीतर और बाहर सर्वत्र परिव्याप्त है। जैसे ईख का रस गुड और चीनी आदि में है, वैसे ही ईख के अन्दर में भी वही रस है। पाचक और शिल्पी साधन रूप स्पर्शादि रूप से जैसे बाहर है वैसे ही व्यक्त और अव्यक्त में अन्दर और बाहर अस्ति, = सत्ता, भाति = भान, प्रियत्व = आनन्द रूप से स्थित रहने पर भी व्यक्त और अव्यक्त सत्ता, भान और आनन्दस्वरूप नहीं है। जैसे जल भी समुद्र है आश्रय धर्म का त्याग न करने से वैसे ही उसका स्वरूप अन्दर और

मन्तर्बाह्यं नामरूपसुखदुःखं मायाकार्यं तस्मिन्कैवल्ये नेत्यर्थः । "नेति नेतीति गार्गी"ति श्रुतेश्च ॥ १८ ॥

अस्य कैवल्यस्य त्र्यक्षरो मौनेन वाचक इति तदेवाह—

आत्मा शब्दो विन्दुनादान्वितोऽयं
शक्त्या साकं मायिकेनैव शान्तः ।
निर्वाणं तत्केवलाऽनन्दबोध-
मेवम्भूता काथशान्तिः परात्मा ॥१९॥

आत्मेति—तर्हि काथबोधप्रणवौ कथमनिर्देश्यवाचकाविति चेदाह-आत्मा अकार उकारो मकार इति । त्रिवर्णस्वरूपोऽसौ अकार उकारो मकार इति । तान्येकश्वासमभवत् "तदेत दोमि"तिश्रुतेश्च मन्त्ररूपः, शब्द्यते

5055

बाहर है नाम, रूप, सुख और दुख स्वरूप माया का कार्य उस कैवल्य में नहीं है। क्योंकि—यह नहीं है, यह नहीं है, गार्गी——यह श्रुति में कहा गया है ॥ १८ ॥

इस कैवल्य का तीन अक्षरों वाला वाचक मौनरूप में इसी को आगे की पंक्तियों से कहा जा रहा है :——

बिन्दु और नाद से समन्वित यह आत्मा है; तीनों गुणों की साम्यावस्था के साथ एवं मायिक के साथ सुनिश्चित प्रणव जहाँ शान्त हो जाता है, केवल आनन्दबोध स्वरूप ही यह निर्वाण है ॥१९॥

अनन्तर काथबोध और प्रणव कैसे अनिर्देश्य के वाचक हैं——इसके समाधान के प्रसङ्ग में कह रहे हैं :——आत्मा अकार, उकार, मकार है, अकार, और उकार मकार तीन वर्णों के स्वरूप वाला वह आत्मा है। वे जब एकात्मक हो गये वही 'ओम्' है श्रुति के अनुसार मन्त्रात्मक है। शब्द करने से शब्द है अर्थात् बिन्दु और नाद से समन्वित प्रणव के उच्चारण के बाद सानुनासिक ध्वनिमात्र, सर्वत्र समस्वरूप,

इति शब्दः विन्दुनादान्वितः, प्रणवोच्चारोत्तरसानुनासिक-ध्वनिमात्रः, सर्वत्र समः, तुरीयज्ञानवृत्त्युत्पादकानुज्ञानु-भवदो विन्दुरित्यर्थः। ताल्वादिस्थानवर्जितकेवलाऽकार-तन्मात्रो नादः दशमवृत्तिनिरुद्धावस्थानुभवदः। विन्दुश्च नादश्च विन्दुनादौ ताभ्यामन्वितो युक्त इत्यर्थः। अयं प्रणवः सर्ववेदेषु वेदादित्वेन प्रसिद्धत्वादुल्लेखओमिति। शक्त्या साकमकारेण स्थूलविराट्कारणपञ्चीकृतभूतकार्य-व्यावृत्त्या मकारेण भूताव्यक्तकारणाऽव्याकृतावरणलया-त्मकव्यावृत्त्या विन्दुनादाभ्यां तुर्योन्मनात्मिकावस्था-व्यावृत्त्या ब्रह्मणः शक्तिर्गुणसाम्यस्वरूपा तया साकं मायिकेन च, सैव कस्मिन्ननेकत्वप्रदर्शनहेतुः शक्तिर्माया तस्या इदं त्रैगुण्यं मायिकं तेन सहैव सुनिश्चितोऽयं प्रणवो यत्र शान्तः—घृतकणस्तदप्यघृत इव लयंप्राप्तः। तत्सर्वो-पाधिव्यावृत्त्या तच्छब्दप्रतिपाद्यं लक्ष्यम्, नतु शक्ति-

---

तुरीय ज्ञानवृत्ति उत्पादक अनुभवप्रद बिन्दु—यह अर्थ है। तालु आदि स्थान से वर्जित केवल अकार तन्मात्रा स्वरूप नादात्मक दशम-वृत्ति से निरुद्ध अवस्थात्मक अनुभवप्रद बिन्दु और नाद बिन्दुनाद है, इनसे अन्वित युक्त यह अर्थ होता है। यह प्रणव सभी वेदों में वेद के प्रारम्भिक रूप में प्रसिद्ध होने से इसका उल्लेख है। शक्ति के साथ अकार से स्थूल विराट् कारण पञ्चीकृत भूतकार्य की व्यावृत्ति से बिन्दु और नाद के द्वारा चतुर्थ उन्मनात्मक अवस्था की व्यावृत्ति होने से ब्रह्मशक्ति = सत्त्व रजः तम की साम्यावस्था के साथ मायिक से वही किसी में अनेकत्व प्रदर्शन में साधन शक्ति माया उसका यह त्रैगुण्य अर्थात् उसके साथ निश्चित यह प्रणव जहाँ शान्त अर्थात् धृतकण भी अघृतकण के रूप में लय प्राप्त करता है। वह सभी उपाधियों की व्यावृत्ति से ओम् इस शब्द से प्रतिपाद्य लक्ष्य है, शक्ति-

ग्रहेणानिर्देश्यत्वात्, विद्याऽविद्यात्मकनियन्तृनियम्यत्वमीशजीवयोरुपाधिभूतप्रपञ्चः। सविषयप्रणवस्य निर्वाणहिमकणस्य जलमिवेत्यर्थः। "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुने"ति भगवदुक्तेः वेदाः हेयत्वेन त्रैगुण्यविषया भवन्ति। निस्त्रैगुण्यमुपादेयत्वेन निस्त्रैगुण्यो भवेति वेदतुल्यभगवद्वचनात्। "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती"ति श्रुतेश्च। अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कारस्यात्मा "आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद" इति माण्डूक्यश्रुत्या सविषयप्रणवलयोक्तत्वाच्च लयावशिष्टं प्रणवनिर्वाणम्। केवलानन्दबोधं–विदितसाभासरहितं केवलश्च तद्विषयसुखं तत् साधनसुखभोक्तृत्वादिदुःखात्यन्ताभावादानन्दश्च तदेव,

---

ग्रह से वाच्य नहीं है, क्योंकि, वह अनिर्देश्य है, विद्या और अविद्यात्मक नियन्ता और नियम्यत्व ईश्वर और जीव की उपाधि प्रपञ्च है। विषय समन्वित प्रणव का निर्वाण हिमकण का जल के समान है। वेद त्रिगुणात्मक है, हे अर्जुन ! तुम त्रैगुण्य शून्य हो जाओ, यह श्री भगवान् ने गीता में कहा है, वेद हेय होने से त्रैगुण्यविषय इसको कहा गया है। निस्त्रैगुण्य अर्थात् उपादेय होने से निस्त्रैगुण्य हो––यह वेद के समान भगवान् की वाणी से कहे गये हैं। सभी वेद जिस पद = स्थान अर्थात् ब्रह्म को कहता है यह श्रुति में भी कहा है। अमात्र चतुर्थ = अव्यवहार्य, प्रपञ्चोपशम, शिव, अद्वैत इसी प्रकार ओङ्कार तीन अक्षरमय है। आत्मा ही आत्मा से आत्मा में प्रविष्ट होती है––यह जो जानता है। इस माण्डुक्य श्रुति के अनुसार विषयसमन्वित प्रणव का लय कहने से लय से अवशिष्ट प्रणव निर्वाण है। केवल आनन्दबोध ज्ञात आभास शून्य, केवल स्वरूप है उस विषय और उसके साधन सुख भोक्तृत्व आदि दुःख का अत्यन्ताभाव होने से वही आनन्दस्वरूप और बोधस्वरूप है अर्थात् बोधनयोग्य = ज्ञेय

बोधस्वरूपश्च बोधनीयबोधनबोधकभेदरहिताखण्डम् । एवम्भूते ज्ञानप्रलये जाते सति, अथेदानीं शान्तिपृच्छकं पृच्छामि, एतदन्या पराऽतिशयेनोत्कृष्टा का शान्तिरस्तीत्यभिज्ञस्त्वं वदेत्यर्थः । किन्तु एतदतिरिक्तं नास्ति तस्मादियमेवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

धर्मं कृत्वा माऽस्तु ते तत्फलेप्सा
त्यक्त्वा त्रित्वं तूर्यधर्मे रमस्व ।
भूतेभ्यः कमानन्दं त्वम्भवस्व
मानं त्यक्त्वा स्वस्वसिद्धोऽनपेक्षः ॥२०॥

इदानीं प्रश्नत्रयाणां प्रत्युत्तरमुक्त्वा आरुरुक्षूणामुक्तज्ञानसाधनीभूतचित्तशुद्धिहेतुर्धर्म उच्यते । धर्मं

बोधन = ज्ञान और बोधक के भेद से रहित अखण्ड है। इस प्रकार ज्ञान का प्रलय होने पर इस समय शान्ति की जिज्ञासा करता है। इससे अतिरिक्त परा = अतिशय उत्कृष्ट कौन-सी शान्ति है, आप सभी प्रकार से ज्ञाता हैं, अतः कहें। किन्तु, इससे अतिरिक्त नहीं है इसलिए यही है––यह अर्थ है ॥ १९ ॥

धर्म का अनुष्ठान कर उसके फल की कामना तुझे न हो, सत्त्व-रजस्तमोगुणात्मक फलों का परित्याग कर धर्म, अर्थ और काम का परित्याग स्वरूपानन्द स्वरूप मोक्ष में रमण करो, भूतों के द्वारा तुम किस आनन्द का अनुभव करते हो। मान का परित्याग कर सभी अपेक्षाओं से रहित तुम और मैं से परे ब्रह्मानन्द का अनुभव करो ॥ २० ॥

तीन प्रश्नों का उत्तर देने के बाद मोक्षधर्म पर आरोहण की इच्छा करने से कथित ज्ञान के साधनीभूत चित्त शुद्धि के साधन धर्म को कह रहे हैं––धर्मं कृत्वा। सभी के धारण करने के साधन धर्म-

कृत्वेति–धर्मः सर्वधारणहेतुर्न तु नाशदुःखादिहेतुरधर्मो धर्मः, वेदबोधितश्रेयःसाधनत्वरूपः पञ्चमहायज्ञस्वरूपः। "भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञ" इति शातपथीश्रुतेः। अहरहर्भूतेभ्यो बलि हरेदित्यादि पञ्चचोदनालक्ष्येत्यादि देवयज्ञो धर्मः। एवमेषां यो यो धर्मः स स पञ्चमहायज्ञान्तर्गततया पञ्चमहायज्ञः, सर्वधर्मभूतोऽयं ब्रह्मादिस्थावरान्तैः स्वाधिकारानुसारेण क्रियते। तिर्यगादिष्वपूर्वोत्पत्त्यभावात् पापक्षयो भवति। कपोताख्याने मनुष्ययज्ञेन स्वर्गप्राप्तिरिति श्रवणात्। तिर्यञ्चोऽपि स्वराजानं पूजयन्तीति च पुत्रादीन्पालयन्ति। शास्त्राधिकाराभावेऽपि स्वभावप्रवृत्तव्यवहारक्षमा भवन्तीति श्रूयते।
"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।

विनाश और दुःख आदि का साधन अधर्म धर्म नहीं है, वेद विहित अर्थात् बोधित कल्याण का साधनभूत पञ्चमहायज्ञस्वरूप है। भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ––यह शतपथ ब्राह्मण की श्रुति के अनुसार से प्रतिदिन भूतों को बलि देनी चाहिए इत्यादि पञ्चचोदना लक्ष्य इत्यादि देवयज्ञ धर्म है। इस प्रकार इनका जो-जो धर्म है वह पञ्चमहायज्ञान्तर्गत होने से पञ्चमहायज्ञ है। यह सभी का धर्म होने से ब्रह्मादि स्थावर पर्यन्त सभी प्राणियों के द्वारा अपने-अपने अधिकारों के अनुसार किये जाते हैं। पक्षियोनि में अपूर्व की उत्पत्ति न होने से पाप का क्षय होता है, क्योंकि, कपोत की कथा में मनुष्य यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति कही गई है। पक्षियाँ भी अपने राजा की पूजा करती हैं और पुत्र आदि का पालन करती हैं। शास्त्र में अधिकार न होने पर भी स्वभाव से प्रवृत्त व्यवहार में समर्थ होती हैं––यह सुनते हैं।

पूर्व में ब्रह्मा ने कहा यज्ञ के साथ ही प्रजा की सृष्टि की गई है,

"देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथे"ति भगवदुक्तत्वात् ।

व्यवसायात्मिकबुद्ध्या निष्कामत्वेन भगवदुद्देशेनाऽनुष्ठानेन देवान्भावयतां चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानेन परमश्रेयो मोक्षो भवति । अव्यवसायिनान्तु दृष्टभोगादीन्भुक्त्वा पुण्यक्षयो भवति । सुष्ठुदेवैः सम्यगनुगृहीतस्य स एव धर्मोऽनेन प्रकारेण भवति । स च "विषयवती प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी"ति पातञ्जलसूत्रात् सवितर्कनिर्वितर्कसमाधिर्भूतयज्ञः ।

अथ वा रुद्रप्रयुक्तयोगे प्रतिलोमेन भूतलयहेतुपञ्चमहाभूतबलिदानेन अहंभूताधियज्ञं यजन्ति । सर्वाङ्ग-

---

इसका अनुष्ठान करो, अभिलाषा की पूर्ति होगी । इस प्रकार देवता की पूजा करने पर देवगण मानव की अच्छी भावना करेंगे, परस्पर भावना करने से उत्कृष्ट कल्याण की प्राप्ति करेंगे––यह भगवान् ने कहा है । निश्चयात्मक ज्ञान से निष्काम रूप से भगवान् को उद्दिश्य कर अनुष्ठान मे देवता की भावना करने से चित्त विशुद्धि होने से ज्ञान के द्वारा परमश्रेय अर्थात् मोक्ष होता है । अव्यवसायात्मक ज्ञान सम्पन्न व्यक्तियों की दृष्टि भोग आदि का भोग करते हुए पुण्य का नाश होता है । भलीभाँति देवों के द्वारा सम्यग् अनुगृहीत वही धर्म इस प्रकार से सम्पन्न होता है । विषयवती प्रवृत्ति उत्पन्न होकर मन की स्थिति का साधन है । इस पातञ्जल सूत्र के अनुसार सवितर्क और निर्वितर्क समाधि भूतयज्ञ है ।

अथवा रुद्र प्रयुक्त योग में प्रतिलोम क्रम से भूतलयसाधन पञ्चमहाभूत के बलिदान से अहंभूताधियज्ञ का याग किया जाता है । सर्वाङ्गधारणा से मनुष्याकृति में प्रमेय चैतन्य अधियज्ञयजन मनुष्य-

धारणया मनुष्याकृतौ प्रमेयचैतन्याधियज्ञयजनं मनुष्य-यज्ञः सप्तदशसंख्याकलिङ्गशरीरं तत्र मनोबुद्धिप्रधानानि दशेन्द्रियाणि तत्तद्देवतात्मन्यधिदेवसंयमाग्नौ हवनं दैव-यज्ञः। "ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्नि"ति भगवदुक्तप्रकारेण गुरूपदिष्टप्रणवार्थं स्मरन् सोऽहं शब्दस्य नादः प्रणवोच्चारणं भ्रुवोर्मध्ये नादान्तरात्मयजनं ब्रह्मयज्ञः। तज्ज्ञा सप्तदशी स्वधा तया सप्तधाऽन्तरात्मानं पितरमधियज्ञं यजतीति पितृयज्ञः। अयमेव पञ्चविधो धर्म्मयज्ञो वर्णाश्रमभेदेन कामनापरत्वेन नानाविधो भूत्वा देवमनुष्यतिर्यगादीन् जीवयेत्। गुणति एवं स्वधर्मयज्ञ-मधिकृत्य वर्ततेऽसावधियज्ञो विष्णुः "यज्ञो वै विष्णुरि"-ति श्रुतेः। अत एव प्रजानां यद्यदपेक्षितं तत्तद्भवतीत्यर्थः। सर्वस्वधर्मयज्ञानां परमोऽयं धर्मः। एतदनुष्ठानेन कृत-

---

यज्ञ है। सतरह लिङ्गशरीर है इसमें मन बुद्धिप्रधान दश इन्द्रियाँ हैं, उन इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवों में अधिदैव संयमरूपी अग्नि में हवन दैवयज्ञ है। ॐ इस एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण और मेरा अनुस्मरण इस भगवान् से कथित प्रकार के अनुसार गुरु से उपदिष्ट प्रणव के अर्थ का स्मरणपूर्वक सोऽहं शब्दरूपी नाद प्रणव का उच्चारण भौओं के मध्य में अन्य नादों का आत्मयजन ब्रह्मयज्ञ है। सतरह स्वधा से सात बार अन्तःआत्मस्वरूप पितर अधियज्ञ याग करना पितृयज्ञ है। ये पाँच प्रकार के धर्मयज्ञ वर्ण और आश्रम के भेद से कामनापरक होने से अनेक प्रकार के होकर देवता, मनुष्य और पक्षी आदि का जीवनाधान करते हैं। गुण एवं अपने धर्मयज्ञ को अधिकृत कर जो विद्यमान रहता है, वह अधियज्ञ विष्णु है—'यज्ञ ही विष्णु है' यह श्रुति में कहा गया है। इसीलिए प्रजा को जो-जो अपेक्षित रहता है, वह होता है। सर्वस्व धर्मयज्ञों का यह

कृत्यो भवति। "स ऐक्षत इति" श्रुत्युक्तसृष्ट्यादौ ईक्षण-मालोचनं तपःस्वरूपं स्वस्य धर्मः। आवरणविक्षेपरहिताऽत्मनि धारणाध्यानात्मकनिरोधोत्पादनहेतुर्धर्मः अपरोक्ष-साक्षात्कारत्वात्। "स एव परमो धर्मो यद्योगेनाऽत्म-दर्शनमि"ति याज्ञवल्क्यस्मृतेः। "यस्त्वात्मरति"रिति ज्ञानयज्ञं परमिति भगवदुक्तेः। एतद्धर्मस्तदेतत् क्षेत्रं यज। "तस्माद्धर्मात्परं नास्ती"ति श्रुतेः। निर्वृत्तिप्रवृत्ति-रूपधर्मं कृत्वा तत्फलेप्सा, तस्य धर्मस्य कामनया उपा-सितस्य वाऽन्तरफलं धर्मार्थकामात्मकम्। निवृत्तरूपस्य त्वणिमादिकं ज्ञानञ्च फलम्, तस्येप्सा ते तव माऽस्तु संसारप्रदं तत् क्रोधजनकत्वात्। निर्विषयधर्मानुष्ठानं भूयादित्यर्थः। शिविवत् त्रीन् कामक्रोधलोभशबलधर्मा-

---

परम धर्म है। इसके अनुष्ठान से मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। उस इक्षण = दर्शन इस श्रुति में कथित सृष्टि के आदि में ईक्षण अर्थात् आलोचन तपःस्वरूप अपना धर्म है। आवरण विक्षेपरहित आत्मा में धारणा-ध्यानात्मक निरोधोत्पादन का साधन ही धर्म है, अपरोक्ष साक्षात्कारात्मक = प्रत्यक्षात्मक होने से। जो योग से आत्मा का दर्शन अर्थात् साक्षात्कार है वही परम धर्म है यहाँ याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है। भगवान् ने भी जो आत्मरति है--इस ज्ञानयज्ञ को उत्कृष्ट कहा है। यह धर्म है अतः इस क्षेत्र की उपासना करो। इस धर्म से श्रेष्ठ कुछ नहीं है--यह श्रुति में कहा गया है। निर्वाण को प्रवृति धर्म बनाकर उस फल की प्राप्ति की इच्छा, उस धर्म की कामना से उपासना करने, धर्म, अर्थ और काम ये अवान्तर फल होते हैं। निवृत्त रूप का अणिमादि ज्ञान फल है, उसकी कामना तुमको न हो, वे संसार को देने वाले हैं, क्योंकि वे क्रोधजनक हैं, निर्विषय धर्म का अनुष्ठान होना चाहिए। शिवी के समान काम-क्रोध-लोभ-मोह नरक के द्वारभूत धर्माभासों को छोड़कर कामादि

भासान् नरकद्वारभूतान् त्यक्त्वा परित्यज्य, तुर्यधर्मे—कामाद्युक्तत्रयरहितनिर्हेतुके तुर्ये चतुर्थे धर्मे रमस्व रतिं कुर्वित्यर्थः। पापक्षयपुण्यातिशयं विनेदमशक्यम्। पापैस्त्याज्यः पुण्यैराश्रयितव्यः कथं भवामीति चेदाह कर्मणा मनसा गिरा भूतानामद्रोहेण, भूतेभ्यः ब्रह्मादिस्थावरान्तेभ्यः, कं धर्माऽविरुद्धयथाशक्त्या सर्वोपायैः सुखम् कायवाङ्मनोभिर्भगवद्बुद्धया सुखदो भवेत्यध्याहार्यम्। मानश्च महत्त्वं ददातीति मानदः त्वं भवेत्यर्थः। दुःखावसानभेदो मा भवेत्यर्थः। यत्कृतं परेभ्यः तद्भाविफलदातृत्वात्। मानं उक्तानुष्ठानेन भूतेभ्यः प्राप्तसन्मानः, तज्जन्याऽभिमानफलादिना सह तं मानं त्यक्त्वा मानाऽवमानाऽविषयत्वादहं मान्यो नेतीति भगवदुक्तज्ञानलक्षणम्, मानित्वेन मानित्वस्वरूपत्यागेनेत्यर्थः। स्वस्व-

---

उक्त तीनों से रहित निर्हेतुक चतुर्थ धर्म में रति करो। पापक्षय और पुण्यातिशय के बिना यह सम्भव नहीं है। पापों से छोड़ना चाहिए पुण्यों से आश्रयण करना चाहिए तब कैसा होऊँगा। कर्म से, मन से, वाणी से, प्राणियों के अद्रोह से, ब्रह्मादि स्थावर पर्यन्त धर्म से अविरुद्ध यथाशक्ति सभी उपायों से सुख शरीर वाणी और मन से एवं भगवद् बुद्धि सुखप्रद हो——यह अध्याहार करना चाहिए। मानमहत्त्व प्रदान करता है, अतः, मानप्रद तुम हो। दुःख के अवसान में भिन्नरूपता न हो। अन्य के लिए जो किया गया है, वह भावी फलप्रद है। मान अर्थात् उक्त अनुष्ठान के द्वारा प्राणियों से सन्मान की प्राप्ति होती है, उससे जन्य अभिमान रूप फलादि से उस मान का परित्याग कर मान और अवमान का अविषय होने से मैं मान्य नहीं हूँ——यह भगवान् से कथित ज्ञानलक्षण के अनुसार मानित्व से = अभिमानित्व स्वरूप का परित्याग करने से, एवं अर्थात् स्वसिद्ध

सिद्धः युष्मत्प्रत्ययगोचरव्यावृत्त्या स्वशब्दलक्षितमीश्वर-स्वरूपं तेन स्वस्वरूपेणाऽसिद्धः आत्मैकत्वसिद्धोऽपरान-पेक्षः व्यपेक्षारहितस्त्वम्भवेत्यर्थः। योगारूढश्चेति श्लोक-सङ्ग्रहार्थम्। आरुरुक्षोर्भवत्येव योगारूढत्वं तस्मात् ॥२०॥

कस्याऽपेक्षां मा कुरु त्वं समात्मा
क्षन्तव्यास्ते तर्ज्जना दारुस्ताः।
सांख्ये योगे लौकिके सप्रपञ्चे
कृष्णविष्णुं(?) जिष्णुशर्वं वद त्वम् ॥२१॥

कामाङ्गीकारे क्रोधादिदोषबाहुल्यादनिच्छया यद्भवतु तद्भवत्वित्यपेक्षानिषेधमाह—कस्य सुहृच्छिष्यपुत्रमित्र-सहायादिकस्य अपेक्षां सिद्धिनिमित्तं मम साहाय्यं कुर्वि-

---

युष्मत्प्रत्यय गोचर की व्यावृत्ति से स्वशब्द से लक्षित अपने ईश्वर स्वरूप के साथ असिद्ध आत्मा के एकत्व सिद्ध = अन्य की अपेक्षा से रहित तुम हो। योगारूढ़ यह श्लोक संग्रह के लिए है, आरुढ़ होने की इच्छा वाले हो यही योगरूढ़ता है ॥ २० ॥

सभी स्थिति में समभाव रखकर मित्र आदि किसी भी सहायक की अपेक्षा मत करो। राजस-तामसजनों से किये गये सुख-दुःख साधन भयंकर कष्ट को क्षमा करो। सांख्य-योग, लौकिक सभी प्रपञ्चों का परित्याग करो। कृष्ण-विष्णु, जिष्णु-महादेव सभी तुम ही हो जाओ ॥ २१ ॥

काम स्वीकार करने पर क्रोध आदि अनेक दोषों के बाहुल्य से जो होना है वह हो किसी प्रकार की अपेक्षा न करो। किसकी अपेक्षा न करो इसके समाधान में कहा है कि बन्धु, शिष्य, पुत्र, मित्र एवं सहायक आदि की अपेक्षा को अर्थात् मेरे कार्य की सिद्धि के

तीच्छाऽपेक्षा तां त्वं मा कुर्वित्यर्थः, ममानुग्रहात्।

"सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसी"ति भगवदुक्तत्वात्।

समात्मा–सम उत्पत्तिस्थितिप्रलयेऽपि अविकृतस्वरूपोऽसौ।

"अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततमि"ति च।

व्याप्येन व्यापकस्याऽनिष्टं कर्त्तुमशक्यमात्मैकत्वदर्शनेन, सुप्तव्याघ्रवत्सुखदुःखादिभोगरहितस्य ते तव भूतैः कृताः तर्ज्जनाः क्षन्तव्याः क्षन्तुं योग्याः। का इति चेत्-दारुणास्ताः राजसतामसजनकृताः धिक्कायोऽसि दुरात्माऽसि ध्वंसस्व, इतो गच्छ त्वमित्याद्यज्ञदुःखहेतुवाक्शल्यभूताः दारुणाः अज्ञहृदयदारुणत्वात्, ता एताः

लिए मेरी सहायता करो इस इच्छा रूपी अपेक्षा तुम मत करो, मेरे अनुग्रह के कारण।

सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय सभी को समान मानकर युद्ध के लिए तत्पर होगे तो पाप की प्राप्ति नहीं होगी––इस प्रकार भगवान् की उक्ति से। समात्मा अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और लय में भी अविकृत रूप वह है। उसे अविनाशी समझो जिससे यह विश्व विस्तृत रूप से उत्पन्न हुआ है। व्याप्य से व्यापक का अनिष्ट नहीं किया जा सकता है, एकात्म-दर्शन से सोये हुए बाघ के समान सुख-दुःख आदि भोगरहित तुम्हारी भूतों के द्वारा की गई तर्जना = कटु-व्यवहार क्षमा के योग्य है। वह कौन है, ये भयङ्कर हैं, अर्थात् राजस एवं तामस व्यक्तियों के द्वारा धिक्कृत शरीर वाले तुम हो, दुरात्मा हो, नाश हो जाय, यहाँ से तुम चले जाओ, इत्यादि अज्ञों के दुःख-साधन वाक्य जो कण्टक के समान भयङ्कर हैं, अज्ञहृदय के लिए भयङ्कर कष्टकर होने से, ये सभी प्राणियों के लिए दारुण रूप में

सर्वलोकहृद्दारुणत्वेन प्रसिद्धाः शुद्धाः। क्षमोत्तरं किं कर्त्तव्यं मयेति चेत् हरिहरनामोच्चारणस्मरणं कर्त्तव्यमित्याह सांख्ये चतुर्विंशतितत्त्वसंख्याया उत्पन्नं साख्यम्। किं तत्–पुरुषः अभोक्ता, अकर्त्ता, सुखदुःखक्रियाणाञ्च समभावनं ज्ञानम्, तस्मिन् स्थितः सन् च, योगे क्षिप्तमूढविक्षिप्तचित्तभूमिक्रान्तैकाग्र्यात्मविषयवृत्त्यस्मिता - मात्रः सविकल्पसमाधिर्योगः, तस्मिन् स्थितः सन्, परया वाचा नाम वदेदित्यर्थः। लौकिके–लोके भवो लौकिकाचारः, कुलधर्मादिकस्तस्मिंश्च। पुनः कीदृशे सप्रपञ्चे। "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इतिश्रुतेः। प्रोत्कृष्टदुःखदजगत्कारणमायया परवस्तु प्रपञ्च्यते इति प्रपञ्चस्तेन सह संसारः सुखदुःखानुभवस्तस्मिन्, वैखर्या वाचा सार्थं वदेत्यर्थः। सत्ता तत् किमानन्दप्रतिपादककृष्ण-

---

प्रसिद्ध हैं। क्षमा के बाद मुझे क्या करना चाहिए इसके समाधान में कह रहे हैं कि हरिहर के नामों का उच्चारण और स्मरण करना चाहिए। सांख्य में = चौवीस संख्याक तत्त्वों से उत्पन्न सांख्य है। क्या वह पुरुष अभोक्ता अकर्त्ता, सुख-दुःख क्रियाओं समभावनात्मक ज्ञान है, उस ज्ञान में स्थित होकर, योग में क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त चित्त भूमि का अतिक्रमण कर एकाग्रात्म विषय वृत्ति अस्मितामात्र का अवलम्बन कर सविकल्प समाधि योग है, उस योग में स्थित होकर परावाणी से नाम का उच्चारण करे। लौकिक में = लोक के अनुसार किया जाने वाला आचार लौकिक आचार है, कुल धर्म आदि उसमें। पुनः किस प्रकार के सप्रपञ्च में = इन्द्र ने माया से पुरुरूप प्राप्त करता है यह श्रुति में कहा गया है। प्रकृष्ट उत्कृष्ट दुःखद जगत् कारण माया से परवस्तु का विस्तार होता है। अतः यह प्रपञ्च–इस प्रपञ्च के साथ संसार सुख-दुःख का अनुभव उसमें, वैखरी वाणी के द्वारा अर्थ सहित कहो। सत्ता वह क्या आनन्द प्रतिपादक

नामग्रहणेन कृतधर्माद्यक्षय्यसुखरूपं भवति। "प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यत" इति भगवदुक्तेः। तत्सुखसङ्गेन बन्धप्राप्तिरिति चेत्-वेवेष्टाति व्यापकत्वात्तस्यैव नाम विष्णुरिति वदेदित्यर्थः। स एव स्वनाम्ना कामक्रोधादिशत्रून् जेतुं शीलमस्याऽसौ जिष्णुस्ते वद, पराभवाऽभावात्। अविद्या-भयमिति चेत्–शर्वम् अनाद्यविद्याबन्धयुक्तजीवानां तारकोपदेशेन बन्धं शृणोतीति शर्वं त्वं वदेत्यर्थः। अक्षयपुण्यजयेनाऽभिमाननिवारणार्थमिदम्।

ननु विष्णुशिवयोर्नामानि किमर्थमुक्तानि, द्वितीयपरमेश्वरस्याऽभावादेकस्यैव वक्तव्यानीति चेन्न, इयं वैष्णवशैवाऽभासानां विष्णुशिवस्वरूपमविदुषामवैदिकानां वा अत्र न श्रोतव्या।

कृष्ण का नाम ग्रहण से धर्मादि सम्पादन पूर्वक अक्षय सुख रूप होता है, क्योंकि हे पार्थ, प्रशस्त कर्म में सत् शब्द का प्रयोग होता है। उस सुख के साथ बन्ध की भी प्राप्ति होती है। वेवेष्टीति अर्थात् जो व्यापक है इस अर्थ को लेकर विष्णु शब्द कृष्ण का अपर पर्याय है, वही अपने नाम से काम-क्रोध आदि शत्रुओं को जीतने वाला होने से वह जिष्णु है, उसका पराभव = पराजय न होने से। अविद्यामय है इसके उत्तर में कहा है शर्व अर्थात् अनादि अविद्या बन्धन से युक्त जीवों का तारक के उपदेश से बन्ध को सुनता है, अतः शर्व है। अक्षय पुण्य के जय से अभिमान निवारण के लिए यह कहा है।

विष्णु और शिव का नाम क्यों कहा गया है, द्वितीय परमेश्वर के न होने से एक का ही कथन होना चाहिए, यह वैष्णवाभास और शैवाभासों का विष्णु और शिवस्वरूप अविद्वान् या अवैदिकों के लिए श्रोतव्य नहीं है।

तत्र शिव उवाच कृष्णम् ।
अहं त्वं सर्वगो देवस्त्वमेवाऽहं जनार्दन ।
आवयोरन्तरं नास्ति शब्दैरर्थैर्जगत्पते ॥
त्वदुपासा जगन्नाथ सैवाऽस्तु मम गोपते ।
यस्तु त्वां द्विषते देव स मां द्वेष्टि न संशयः ॥
त्वद्विस्तारोऽयं ते देव अहं भूतपतिस्ततः ।
न तद्वस्तु विना देव यत्ते विरहितं क्वचित् ॥
नामानि तव गोविन्द यानि लोके महान्ति ते ।
तान्येव मम नामानि नात्र कार्या विचारणा ॥
यदासीच्च वर्त्तते यच्च भावि जगत्पते ।
सर्वं त्वमेव देवेश यच्च किञ्चित्त्वया नहि ॥
इति हरिवंशे कैलासयात्रायां शिवोक्तसार्थनामोच्चारणम्, सर्वधर्मेभ्योऽन्तरङ्गोऽधिकतरश्च धर्मोऽयम् ।

शिव ने कृष्ण से कहा :—

मैं और आप सर्वत्र परिव्याप्त देवता हैं, हे जनार्दन ! तुम और हम एक ही हैं। हे जगत्पते ! शब्द और अर्थ किसी भी रूप में हममें और तुममें कोई अन्तर नहीं है।

हे जगन्नाथ ! तुम्हारी जो उपासना है, हे गोपते ! वही हमारी भी उपासना है। जो तुमसे द्वेष करता है, वह हमसे भी द्वेष करता है, इसमें सन्देह नहीं है।

हे देव ! तुम्हारा ही यह विस्तार है, इसीलिए मैं भूतपति हूँ। हे देव ! ऐसा कोई स्थान नहीं है जो तुम से रहित है।

हे गोविन्द ! तुम्हारे जो श्रेष्ठ नाम हैं, वे ही मेरे भी नाम हैं, इसमें सन्देह या विचार का अवसर नहीं है।

हे जगत्पते ! जो था, जो है, और जो भविष्य में होगा, हे देवेश ! वह सब तुम ही हो, तुम्हारे बिना कुछ भी नहीं है।

यह हरिवंश में कैलासयात्रा के प्रसङ्ग में शिव कथित सार्थक नाम का उच्चारण है, सभी धर्मों से अन्तरङ्ग और अधिकतर यही

कस्मात्–हिंसादिपुरुषान्तरद्रव्यान्तरदेशकालादिनियमाऽनपेक्षत्वाद्याधिक्यकारणमिति, सहस्रनामभाष्ये आचार्यवचनात्।

"ध्यायन् कृते यजन्यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।

यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ सङ्कीर्त्य केशवमि"ति विष्णुपुराणे।

सर्वपापनिकृन्तनं सद्यश्चित्तशुद्धिकरं नामेत्यजामिलादीनामनुभवोऽस्माकन्तु नेतोति मा वद, सद्यःप्रतीतिविधानेनोच्चारणात्। तत् किं विधानं तदाह—

"तृणादपि च नीचेन तरोरपि सहिष्णुना।

अमानिना मानदेन कर्त्तव्यं हरिकीर्त्तनम्॥" शरीरं विस्मृत्याऽष्टसात्त्विकभावैः प्रेम्णाऽर्थदृष्ट्या कीर्तनं कर्त्तव्यम्। निर्मात्सर्येण सद्यः सिद्धिः। कथम्? कृत्वा पश्य। ननु ब्रह्मादीनामधिकः कः? एते जीवा वा ईश्वरो वेति

धर्म है। क्योंकि, हिंसा आदि पुरुषान्तर द्रव्यान्तर देशकालादि नियम से अनपेक्ष होना ही अधिकार का कारण है। सहस्रनामभाष्य में आचार्य वचन से सत्ययुग में ध्यान करते हुए, त्रेता में यज्ञ करते हुए, द्वापर में पूजा करते हुए, जो प्राप्त होता है, वह कलियुग में केशव का सङ्कीर्तन से प्राप्त होता है––यह विष्णुपुराण में कहा गया है। सभी पापों का उच्छेद करने वाला एवम् अविलम्व चित्त को शुद्धि करने वाला नाम है––यह अजामिल आदि का अनुभव है हम लोगों को नहीं है––यह नहीं कहा जा सकता है, सद्यः प्रतीति विधानपूर्वक उच्चारण होने से। वह कौन-सा विधान है––इस प्रसङ्ग में कहा गया है––तृण से भी नीच से; सहिष्णु वृक्ष से भी मानदाता अमानी के द्वारा सदा हरिकीर्त्तन करना चाहिए। शरीर की विस्मृतिपूर्वक अष्टविध सात्त्विक भावों से प्रेम से अर्थदृष्टि पूर्वक हरिका कीर्त्तन करना चाहिए। मात्सर्य रहित अर्थात् निरभिमान होने से सद्यः सिद्धि होती है। कैसे? करके देखो। ब्रह्म आदि से कौन अधिक

चेदाह—"कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वर" इत्याथर्वणश्रुतेः। विष्णुपुराणे गुणमूर्त्तित्वमुक्तत्वात् गुणनियन्तृत्वाच्च गुणमयो कारणोपाधिनित्यमुक्तत्वाभ्याश्च त्रयः परमेश्वराः, न तु जीवा।

"प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया"। "तदात्मानं सृजाम्यहमि"ति च भगवदुक्तेः। रजःसत्त्वतमोमयीं मायामधिष्ठाय ब्रह्मादिविग्रहेण सम्भवत्येकः परमेश्वरः—नित्यमुक्तो निरावरणः सर्वज्ञाऽत्मज्ञानविग्रहः शुद्धज्ञानस्वरूपो निर्गुणोऽपि सगुणः, निरतिशयाऽत्मज्ञाननित्यगुणत्वात्परमेश्वरः। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ती"ति श्रुत्युक्तलक्षणत्रयमात्मज्ञानविग्रहे परमेश्वरे। तस्याऽवतारत्रिमूर्त्तिषु निरतिशयत्रिलक्षणसृष्ट्यादिकृत्यात्मकं

है, ये जीव हैं या ईश्वर हैं? इसके उत्तर में कहा है, यह जीव कार्योपाधि हैं और ईश्वर कारणोपाधि है—यह आथर्वण श्रुति में कहा गया है। विष्णुपुराण में गुणमूर्त्तित्व कहा गया है और गुणों का नियन्ता होने से गुणमयो कारणोपाधि और नित्य-मुक्त होने से तीनों परमेश्वर हैं, जीव नहीं हैं। अपनी प्रकृति का आश्रयण कर अपनी माया से अवतीर्ण होता हूँ एवं तब मैं अपनी सृष्टि करता हूँ—यह भगवान् ने कहा है। सत्त्व रजः और तमोमयी माया का अवलम्बन कर ब्रह्मा आदि विग्रह धारण करता हूँ, अतः एक परमेश्वर नित्यमुक्त, निरावरण सर्वज्ञ, आत्मज्ञान स्वरूप निर्गुण होते हुए भी सगुण, निरतिशय आत्मज्ञान नित्यगुणवान् होने से परमेश्वर है। जिससे ये सभी प्राणिगण उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न हो जीवित रहते हैं और अन्त में जिसमें लीन हो स्थित होते हैं—इस श्रुति से कथित तीनों लक्षण आत्मज्ञान शरीरी परमेश्वर में है। त्रिमूर्ति स्वरूप उसके अवतार में निरतिशय लक्षणत्रय समन्वित सृष्टि-स्थिति-लयात्मक तीनों कृत्य से विशिष्ट स्वरूप सुना गया है,

श्रुतत्वात् त्रिमूर्त्यात्मकसाकारोऽयं परमेश्वरः, ब्रह्मादिकाऽत्रिसंवादे निर्णीतत्वात् । पुराणादिष्वाधिक्यमेकैकस्य दृश्यत इति । यदाह–

"रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।

रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथे"ति भगवद्वचनात् ॥

यदा रजःप्रधानेन ब्रह्माण्डोत्पत्तिस्तदा ब्रह्मणो विष्णुरुद्रोत्पत्तिः । सत्त्वप्रधानेन यदा तदा विष्णोः ब्रह्मरुद्रोत्पत्तिः । तमःप्रधानेन रुद्राद् ब्रह्मविष्णुदेहोत्पत्तिः । तत्तदभिप्रायदृष्ट्या तत्तत्पुराणानि व्यासः करोति । स्वस्वप्रकृतेर्निवृत्तिप्रवृत्तिनिरतिशयकृतित्वगुणाधीनत्वशून्य-त्वाच्च परमेश्वरः कार्योपाधिस्थजीवानां सृष्ट्यादिकृत्यभावात् । ब्रह्मा विष्णुः रुद्र ईश्वरः सदाशिव उत्तरोत्तर-

---

त्रिमूर्त्यात्मक यह साकार परमेश्वर दत्तात्रेय हैं––यह ब्रह्म आदि के साथ अत्रि के संवाद से निर्णीत हैं । पुराणादि में एक-एक की अधिकता देखी जाती है । जैसा कहा गया है––हे भारत ! जो-जो गुण और तमोगुण का अभिभव कर सत्त्व होता है । सत्त्व और रजः को अभिभव कर तमोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण का अभिभव कर रजोगुण रहता है––यह भगवान् की उक्ति से निर्णीत है । जब रजोगुण की प्रधानता से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है तब ब्रह्म से विष्णु रुद्र की उत्पत्ति होती है । जब सत्त्व की प्रधानता रहती है, तब विष्णु से ब्रह्मा और रुद्र की उत्पत्ति होती है । तमः की प्रधानता रहने पर रुद्र से ब्रह्मा, विष्णु के विग्रह की उत्पत्ति होती है इन अभिप्रायों से पुराणों का व्यास निर्माण करते हैं । अपनी-अपनी प्रकृति की निवृत्ति प्रवृत्ति निरतिशय कृतित्व गुणाधीनत्व शून्य होने से परमेश्वर है वह कार्योपाधिस्थ जीवों की सृष्टि आदि कृत्य करने में समर्थ नहीं होता है । ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव उत्तरोत्तर

मधिक इति शैवाः। अनिरुद्धप्रद्युम्नसङ्कर्षणवासुदेव-नारायणेति वैष्णवाः। यथा शालग्रामे विष्णोरुपासना। तथा–पञ्चभूतगतसमष्टिजीवे न्यूनाधिक्यजीववैषम्य-भेदेन परमेश्वरोपासना। न तु कारणोपाधिमूर्त्तिवत्त्व-निर्णयः। मोक्षधर्मे कृतान्तसांख्ये गुणसाम्ये त्रयाणां समत्वम्, क्षोभे तु परस्परं नियन्तृनियम्यगुरुशिष्य-त्वादिलीलाकौतुकं लोकशिक्षार्थम्। "तस्याऽऽत्मानुग्रहा-ऽभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजन"मिति पातञ्जलसूत्रात् कृते ईश्वरविग्रहभेदेऽपि कारणोपाधिव्यवहारतो न तत्र वैषम्यमिति। परमशैववैष्णवपरं भावविद्धमिदम्। तस्मादद्वितीयः परमेश्वरः, साकारोऽपि समष्टिजीवसङ्क-ल्पान्मूर्त्तिशून्यमूर्त्तित्वम्, न तु कर्मजम्।

"अव्यक्तं व्यक्तमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरमि"ति

भगवदुक्तेः।

श्रेष्ठ हैं––यह शैव मानते हैं। अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, सङ्कर्षण, वासुदेव, नारायण उत्तरोत्तर उत्कृष्ट हैं––यह वैष्णव मानते हैं। जैसे शालग्राम में विष्णु की उपासना। वैसे ही = पञ्चभूतगत समष्टि जीव में न्यूनता आधिक्य रूप जीव की विषमता के भेद से परमेश्वर की उपासना होती है। कारणोपाधि मूर्तिमत्ता का निर्णय नहीं है। मोक्षधर्म में अन्त में गुण की समता होने पर तीनों का समत्व है। क्षोभ होने पर परस्पर नियन्ता, नियम्य गुरुत्व, शिष्यत्व आदि लीला कौतुक लोक-शिक्षा के लिए है। उसका अपने लिए अनुग्रह की आकांक्षा न रहने पर भी प्राणियों का अनुग्रह ही प्रयोजन है––यह पातञ्जल सूत्र से ईश्वर विग्रह के भिन्नता होने पर भी कारणोपाधि व्यवहार से वहाँ विषमता नहीं है परम शैव एवं वैष्णव यह भाव-विद्ध है। अतः परमेश्वर के उपदेश के समय सभी इन्द्रियों से ईश्वर-भाव से भावित होकर लयात्मक भजन के द्वारा शरीर और धन से

एवं चिदां मूर्त्त्युपासकानां ब्रह्मैव प्राप्तिः न तु प्रकृतिः ॥ २१ ॥

शिवविष्णुमेकं मात्सर्येण भजनप्रकारमाह—

सर्वैः खैस्तैर्देहगेहेन चाऽर्थै-
र्वन्दस्व त्वं रुक्मिणीशं परेशम् ।
द्रोहं लोभं मुञ्च दम्भमसूयां
दुर्बुद्धे त्वं स्वरूपञ्च भजेदम् ॥ २२ ॥

सर्वैः—परमेश्वरोपदेशसमये कम्पस्वेदरोमाञ्चस्वरभङ्ग-वेपथुवैवर्ण्याश्रुप्रलया इति सात्विकाऽष्टभावा गुरूपदिष्ट-परमेश्वरे वेद्यस्वरूपं शक्तिर्वा जायन्ते । तैः खैः तद्भाव-विशिष्टैः दशेन्द्रियैः तत्तद्देवताभिः सच्चिदानन्दमात्र-ब्रह्मणि लयात्मकभजनेन निर्गुण परमात्मस्वरूपं भज । तदाऽनुभवेन ज्ञानभजनेन सविकल्पदशायां "यतो वा

सभी वैभवों से परमातमा रुक्मिणीपति का भजन करो । हे दुर्बुद्धे ! द्रोह, लोभ, दम्भ, असूया का परित्याग कर उस निर्गुण के सगुण स्वरूप का भजन करो ॥ २१ ॥

शिव और विष्णु एक है मात्सर्य से भजनका प्रकार कहा है सभी तद्भाव विशिष्ट होकर देहमेह एवं वैभवों से रुक्मिणी पति परमेश्वर की आराधना करें, द्रोह लोभ दम्म असूया का परित्याग कर हे दुर्बुद्धे ! तु उनके इस स्वरूप का भजन करो ॥ २२ ॥

परमेश्वर के उपदेश के समय कम्प, स्वेद, रोमाञ्च स्वरभङ्ग, शरीरकम्पन विवर्णता, अश्रुप्रवाह के द्वारा सात्त्विक आठ भावों की अभिव्यक्ति पूर्वक गुरु के द्वारा उपदिष्ट परमेश्वर के वेद्यस्वरूप की शक्ति उत्पन्न होती है । उन सभी दशों इन्द्रियों से उन देवभावों से आविष्ट होकर सत्, चित् आनन्दस्वरूप मात्र ब्रह्म में लयात्मक भजन अर्थात् तल्लीन भाव से निर्गुण परमातमस्वरूप का भजन करो, उसके अनुभव से = ज्ञान-भजन से सविकल्प दशा में जिससे यह संसार

इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि जगत्कर्त्ता भर्त्ता हर्त्ता इति तटस्थलक्षणलक्षितनित्यमुक्तत्वादिगुणैः सगुणं परमात्मानं भज। स एव प्रकृतिगुणावच्छिन्नदृष्टीनामार्त्त-जिज्ञास्वर्थार्थिनां कृपया गुणमयीं प्रकृतिं तामवष्टभ्य ऐन्द्रजालिक इव गुणमयी ब्रह्मविष्णुमहेश्वररामकृष्ण-दत्तादिविग्रहैः अमृतपुत्तलिकेव। ब्रह्म साकारमिव साकारस्वरूपं सगुणं निर्गुणं साकारं सर्वश्रेयस्करमिन्द्रिय-गोचरज्ञानप्रेमवन्दनेन वन्दस्व, अष्टधाऽष्टाङ्गसङ्कोचने-नेत्यर्थः। द्रोहः पराऽनिष्टचिन्तनम्। परदारापरद्रव्याभि-लाषो लोभस्तम्, धर्मध्वजित्वं दम्भः तन्तु इत्यपरम्। असूया परोत्कर्षाऽसहनता तां मुञ्च। अश्रेयस्कारत्वात् हे दुर्बुद्धे ? सभावेन काथवेत्तेति परिहासार्थमुक्तशब्देन येन दुष्टा बुद्धिर्यस्याऽसौ इदानीं द्रोहादिकं त्यक्त्वा

उत्पन्न होता है। इत्यादि जगत् के कर्ता, भरण-पोषण एवं संहार करने वाले इस तटस्थ लक्षण से लक्षित नित्यमुक्तत्वादि गुणों से सगुण परमात्मा का भजन करो। वही प्रकृति के गुणों से अवच्छिन्न दृष्टि-सम्पन्न आर्त्त जिज्ञासुओं अर्थियों की कृपा से गुणमयी प्रकृति अवष्टम्भन कर = निरोध कर ऐन्द्रजालिक के समान गुणमयी ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, राम, कृष्ण, दत्तात्रेय आदि के विग्रहों, अमृत पुत्तलिका के समान, ब्रह्म के साकार के समान साकार स्वरूप सगुण, निर्गुण, साकार सर्वकल्याण कर इन्द्रियगोचर के ज्ञान और प्रेमपूर्वक बन्दना से बन्दना करो अर्थात् आठ प्रकार से आठों अङ्गों के सङ्कोचन से—यह अर्थ है। द्रोह = दूसरे का अनिष्ट चिन्तन, दूसरे की स्त्री और दूसरे के द्रव्य की अभिलाषारूपी लोभ का, धर्मध्वजित्व स्वरूप दम्भ सूत्र, असूया = दूसरे के उत्कर्ष का असहन न करने के भाव का परित्याग करो, क्योंकि, ये अकल्याणकर हैं। हे दुर्मते, भाव सहित काथवेत्ता होने से परिहास के लिए उक्त शब्द से दुष्ट बुद्धि जिसकी हो गई है, वह इस समय द्रोह आदि का परित्याग कर उस विषय के ज्ञान के ज्ञातृत्व का परिहार कर ज्ञाता के स्वरूप और अपने को

तद्विषयज्ञानज्ञातृत्वमवज्ञाय ज्ञातुः स्वरूपं स्वञ्च तद्रूपमनुत्तममिदं भज, मधुरताऽमृतमिवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

निःसङ्गस्त्वं सङ्गमात्सज्जनानां
निष्कामस्त्वं सेवया निःस्पृहाणाम् ।
गाङ्गं पीत्वा सोमपस्त्वं भवस्व
शुद्धो भूत्वा शुद्धखं तद्भजस्व ॥२३॥

श्लोकेऽस्मिन्निष्कामः निःस्पृहः । सोमकपानफलसाधनमाह—निःसङ्ग इति । त्वदुक्तसाधनं कर्त्तुमशक्यमिति चेत् श्रृणु । निःसङ्गः निर्गतसङ्गो भव । कस्मादिति चेत्सङ्गमात्–अतिनिर्विकल्पभावेन त्यक्तमानेन प्रेम्णा च कृतः समीचीनः सत्सङ्गस्तस्मात् । केषामिति चेत्–नास्तिक्यात्यन्ताभावहेतुकनिर्वासनया सन्मात्राकार-प्रत्यक्सद्वृत्तिकाः जनाः सज्जनास्तेषाम् । परोपकारार्थकामोऽपि माऽस्त्वित्याह–धूममार्गस्य कर्मजन्येहाऽमुत्र फलभोग-

---

उस स्वरूप में मान कर श्रेष्ठ ज्ञानात्मक देव का भजन करो, मधुरता अमृत के समान है ॥ २२ ॥

सज्जनों के सम्पर्क से तुम निःसङ्ग हो, निःस्पृह व्यक्तियों की सेवा से तुम निष्काम हो, गङ्गाजल का पान कर सोमपान मत्त होकर भजन करो, शुद्ध होकर शुद्ध चिद्रूप का भजन करो ॥ २३ ॥

इस श्लोक में निष्काम और निःस्पृह सोमपान फल के साधन निःसङ्ग को कहा है । तुम्हारे कहे हुए ही साधन को करने में असमर्थ होने पर कहा गया है–सुनो, निःसङ्ग = अर्थात् सङ्ग-रहित हो, किस सङ्गम से रहित हो ? अतिशय निर्विकल्प भाव से मान का परित्याग कर प्रेमपूर्वक किया गया जो श्रेष्ठ सज्जनों का संसर्ग है, उससे । किनका ? नास्तिक्य का अत्यन्ताभाव साधन निर्वासना से सन्मात्राकार प्रत्यक् सद् वृत्ति वाले मनुष्यों = सज्जनों के सम्पर्क से, परोपकार के लिए कामना रहते हुए भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि,

वासनासङ्गनिर्गतेऽपि, अक्षय्यमणिमा वैश्वर्यं समीचीन-मिति। वासनासङ्गोद्भवकामे किं साधनमिति चेत्; सेवया–अत्यादरेण श्रवणकीर्तनस्मरणपादसेवनाऽर्च्चनवन्दनदास्यसख्याऽत्मनिवेदनात्मिका भजनस्वरूपा तया। केषां—ब्रह्मविष्णुमहेश्वरसनकादिव्यासशुकशङ्करसदा-नन्दादिगुरूणां प्राप्तैश्वर्यैर्जिताणिमाद्यैरैश्वर्यैं स्पृहा येषां तेषाम्, परोक्षसेवया निर्गता विषयेच्छा कामाभाव इत्यर्थः, पूर्णकामत्वात्। कामो दुष्पूरः तुच्छशत्रुः मोक्ष-विरोधीति ज्ञानाच्च मीमांसकानामाग्रहो द्विजानां सोम-पानमावश्यकमिति चेत्–गाङ्गं गङ्गोद्भवं जलं यथेष्टं पिबेति। सद्रव्यश्चेत् गौर्वाक् श्रुतिरूपाः तत्संस्कृतं जलं सोमो गाङ्गं तत्, पानयोगो चेत्–सप्तदशी सोमकला जलं गाङ्गमूर्द्धलम्बिकया पिबेत्यर्थः। पीत्वा तज्जन्यचित्त-

---

धूममार्ग को कर्मजन्य यहाँ और अन्यत्र फल भोग वासना सङ्ग हटनें पर भी, अक्षय अणिमा-वैभव ठीक है। वासना सङ्ग के उत्पन्न होनें का क्या साधन है? सेवा अर्थात् अतिशय आदर पूर्वक श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, मित्रता और आतमनिवेदना-त्मक भजन रूपी सेवा से। किनकी सेवा से? ब्रह्मा, बिष्णु, महेश्वर, सनकादि व्यास, शुकदेव, शङ्कर, सदानन्ददिगुरुओं में प्राप्त ऐश्वर्यों से अर्जित अणिमादि ऐश्वर्यों में स्पृहा जिनकी है उनकी, परोक्ष सेवासे निर्गत विषय की इच्छा अर्थात् कामभाव यह अर्थ है पूर्णकाम होनें से। काम को कभी पूर्ण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, वह दुष्पूर है, वह तुच्छ शत्रु है और मोक्ष का विरोधी है इस ज्ञान से मीमांसकों का आग्रह द्विजों का सोमपान आवश्यक है, गाङ्गम् = गङ्गा के जल को यथेष्ट पिये। सद्रव्य हों तो गौः = वाणी श्रुतियों से उत्पन्न उससे संस्कृत जल सोम अर्थात् गङ्गा का जल है उसको, पानयोगी ही के लिए पन्द्रहवीं सोमकला जल गङ्गा जल है उसको उन्मत होकर पान करे, पीकर उससे चित्त की शुद्धि होने से गुरु के द्वारा ज्ञान के श्रवण से,

शुद्ध्या गुरोः सकाशात् श्रुतज्ञानेन। शुद्धखं-शुद्धं गुण-वर्जितमनिर्देश्यं खमिव व्यक्ताव्यक्तव्यापकं वासुदेव-स्वरूपं भज। भजनकृतित्यागेन तद्रूपत्वेन ज्ञानभजने-त्यर्थः। तद्वासुदेवस्वरूपं भज। "अक्षरं ब्रह्म परमि"ति भगवदुक्तेः॥ २३॥

नत्वा साधून्योगिनो देवसिद्धान्
सर्वर्षींस्तानर्यमादीन् गुरून् भो।
विश्वाधारं रुक्मिणीशं शिवेशं
नत्वा ज्ञातः काथबोधः समाप्तः॥ २४॥

श्लोकेऽस्मिन्–ग्रन्थान्ते मङ्गलमाचरति। साधून् धर्म-शीलान् योगिनः समाधिमतः देवसिद्धान्। एकादशरुद्राः द्वादशादित्याः अष्टौ वसवः द्वावश्विनौ च, एवं त्रयस्त्रिं-शद्देवाश्च ते सिद्धाश्च अणिमाद्यैश्वर्य्यवन्तश्च तान्। सर्व-र्षीन्–नारदादिदेवर्षयो भृग्वादिमहर्षयो वसिष्ठादिमहर्षयो

शुद्धख=शुद्ध गुणरहित अनिर्देश्य आकाश के समान व्यक्त अव्यक्त स्वरूप व्यापक वासुदेव के स्वरूप का भजन करो। भजन यत्न के त्याग से तद्रूप होकर ज्ञान भजन विवक्षित है, उस वासुदेव स्वरूप का भजन करो, अक्षर ही परब्रह्म है––यह भगवान् ने कहा है॥ २३॥

साधुओं, देवसिद्धों, योगियों को सभी ऋषियों, उन अर्यमा आदि गुरुओं को विश्व के आश्रय रुक्मिणोपति और शिवेश को नमस्कार कर काथबोध को समाप्त किया॥ २४॥

इस श्लोक के द्वारा ग्रन्थ के अन्त में मङ्गल का आचरण करना चाहिए उसका पालन किया है। धर्मशीलो समाधिमान् देवसिद्धों को, ग्यारह रुद्र, बारहों आदित्य, आठ वसु दोनों अश्विनीकुमार एवं तैंतीस देवता, अणिमादि ऐश्वर्य सम्पन्नों को नारद आदि देवर्षियों को वसिष्ठ आदि महर्षियों, अन्य ब्रह्मपुत्र आदि सभी ऋषियों जो

ब्रह्मपुत्रादयश्चान्ये सर्वर्षयः मन्त्रद्रष्टारस्तान्। अर्यमादीन्-अर्यमा आदिर्येषां ते सप्तपितृगणास्तान्। गुरून् ब्रह्मविष्णुशिवदत्तकपिलादयश्च सदाशिवदत्तसदानन्दादिहरिपादान्ताः मे मम गुरवस्तान्, नारायणब्रह्मवसिष्ठशक्तिपराशरव्यासशुकगौडगोविन्दशङ्कराचार्यादींश्च नत्वा। विश्वस्य जगत आधारमाश्रयभूतं परब्रह्म स्वशक्त्या द्विधा जातम्, घृतकणाद् घृतमिव जातमिवेत्यर्थः। तत्किं रुक्मिणीशं विवेशश्च। सत्तानिवृत्त्यैक्यस्वरूपमात्रकृष्णस्य स्वप्रकाशरुचिर्दीप्तिः रुक्मिणी तस्याः स्वात्मत्वेनेशस्तम्। मङ्गलशिवस्याऽत्यन्तमङ्गलता शिवा तस्याः स्वात्मत्वेनेशस्तश्च तौ नत्वा। काथबोधः-कश्च थश्च कथौ ईशजीवौ, तयोः स्वरुपकीर्तिः कथा, कथायास्तात्पर्यभूतोऽर्थः-काथः परंब्रह्म, तस्य बोधः बोधनहेतुरसौ समाप्तः, मुमुक्षुभिः सम्यगाप्त इत्यर्थः। ब्रह्मादीनां वारद्वयं नमस्कारः पुनरुक्तिश्चेन्न देवत्वगुरुत्वाभ्यां

मन्त्रद्रष्टा हैं, उनको नमस्कार कर अर्यमा आदि सात पितृगणों को ब्रह्मा, बिष्णु, शिव, दत्तात्रेय, कपिल आदि सदाशिव, दत्त, सदानन्द आदि हरिपर्यन्त सभी मेरे गुरुओं को, नारायण, ब्रह्मा, वसिष्ठ, शक्ति, पराशर, व्यास, शुकदेव, गौडगोविन्द, शङ्कराचार्य आदि का नमस्कार कर विश्व के आश्रयभूत परब्रह्म जो अपना दो प्रकार से उत्पन्न घृत के समान उत्पन्न रुक्मिणीपति और शिवेश। सत्ता की निवृत्ति से ऐक्यस्वरूप मात्र कृष्ण की स्वप्रकाश दीप्ति स्वरूप रुक्मिणी स्वात्मा होने से ईश्वर उसको-मङ्गल शिव की अत्यन्त मङ्गलता शिवा, उसकी आत्मस्वरूप से ईश को इन दोनों को नमस्कार कर। क और थ = ईश और जीव, उनकी स्वरूप कीर्ति कथा, कथा का तात्पर्य विषयीभूत अर्थ काथ अर्थात् परब्रह्म, उसका बोध, उसके बोधन का साधन समाप्त हुआ अर्थात् मोक्ष की कामना वाले को भलीभाँति प्राप्त हुआ। ब्रह्मा आदि का दो बार नमस्कार

नैव दोषः । एतेषां नमनफलं किमिति चेत्–स्वधर्मयोग-लिङ्गकर्मवेदमन्त्रशुद्धिसफलवृद्धिपुष्टितुष्टिब्रह्मचर्यज्ञानसर्व-यज्ञज्ञानयोगफलानाञ्च वृद्धिः सम्यग्ज्ञानपूर्वकनमनेने-त्यर्थः ॥ २४ ॥

श्रुत्वा त्वेनं शान्तरूपो बभूव
सद्ग्रन्थनं काशकं मुक्तिमार्गे ।
योगीन्द्राणां सद्रहस्यञ्च गुह्यं
सन्तोषान्तर्व्यापकेनैव गीतम् ॥ २५ ॥

ग्रन्थमिति । श्रुत्वा शिष्यस्य किं जातमिति चेत्–श्रुत्वेति एकाग्रार्थबुद्ध्या, न तु क्षिप्तसंमूढविक्षिप्ततया । तु निश्चयेन विपरीतं श्रुतश्चेत् पुण्यादिकं भवति अत एव एनं प्रसिद्धं सन्तोषानन्दवद्भगवदुक्तं–सद्ग्रन्थं–सन्मात्र-प्रतिपादकपदानि ग्रथितानि यस्मिंस्तम् । सद्ज्ञानविषये

होने से पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि, देवता और गुरु के नमस्कार में यह दोष नहीं है । इनके नमस्कार का क्या फल है––अपने धर्म का योग लिङ्ग कर्म वेद, मन्त्रशुद्धि, सफल वृद्धि, पुष्टि, तुष्टि, ब्रह्मधर्मज्ञान सर्वयज्ञ ज्ञानयोग फलों की वृद्धि भलीभाँति ज्ञानपूर्वक नमस्कार का फल है ॥ २४ ॥

इसको सुनकर शान्तस्वरूप हो गया, समीचीन प्रतिपादक तत्त्वों को ग्रन्थन, मुक्ति-मार्ग का प्रकाशन, योगीन्द्रों के समीचीन गुह्य रहस्यों का अन्य सभी तुष्टियो के व्यापक रूप में इसका गान किया गया है ॥ २५ ॥

इसके सुनने से शिष्यों को क्या मिला ? एकाग्र बुद्धि से सुनने पर, क्षिप्त संमूढ एवं विक्षिप्त रूप से श्रवण न करने पर निश्चित ही पुण्य आदि होता है, इसीलिए इस प्रसिद्ध सन्तोष और आनन्दप्रद भगवान् से कथित समीचीन ग्रन्थ सत्स्वरूप मात्र के प्रतिपादक तत्त्व

श्रवणमनननिदिध्यासनरूपमुक्तिमार्गं सूर्य इव काशकम्। अज्ञानाऽवरणाऽत्यन्तप्रतियोगी ज्ञानभास्करत्वात्। योगीन्द्राणां चित्तवृत्तिनिरोधधर्मिणां शुद्धतत्पदार्थबोधकत्वेन तेषां सद्रतस्य-सद्विषये रहस्यमैकान्तिकत्वात्, इत्यपरं गुह्यं गोपनीयम्। कथश्चेत् सन्तोषान्तर्व्यापकेन समीचीनत्वम्। निर्विषये चित्तत्त्वं तद्गतः तोषः सन्तोषः, तस्याप्यन्तरं व्याप्तं येनाऽसौ निरावरणः सर्वज्ञो दत्तात्रेयस्तेन गीतं-शिष्यस्य सन्तोषस्य खेदनिर्मूलनार्थं गानं कृतम्। सद्ग्रन्थं श्रुत्वा शिष्यः शान्तरूपो ब्रह्मसमन्वितः बभूवेत्यर्थः ॥ २९ ॥

अनादिनिधनो देवः सर्वव्यापी निरञ्जनः।
हृदयस्थः स्वयं वक्ता कर्त्ता कारयिता हरिः ॥२६॥

कोऽसौ दत्तश्चेदाह-अनादिनिधन इति। अनादिनिधनः-न विद्यते आदिर्यस्याऽसौ, अनादिश्च सर्वकारण-

---

जिसमें ग्रथित है, श्रवण मनन--निदिध्यासन स्वरूप मुक्तिमार्ग रूपी समीचीन प्रकाश अर्थात् सूर्य के समान दीप्तिप्रद, अज्ञानरूपी आवरण का अत्यन्त प्रतियोगी ज्ञानभास्कर होने से। चित्तवृत्ति के निरोध धर्मियों के शुद्ध तत्पदार्थ का बोधक होने से उनका सद्रहस्य सद्विषय में ऐकान्तिक रहस्य होने से, यह अन्य से गोपनीय है। अन्य सन्तोष का व्यापक होने से समीचीन है। निर्विषय में चित्त तत्त्व और तद्गत तोष ही सन्तोष है, उसके भी अन्तः परिव्याप्त होने से निरावरण सर्वज्ञ दत्तात्रेय के द्वारा गीत शिष्य के सन्तोष के लिए अर्थात् खेदनिर्मूलन के लिए यह गान किया है। सद्ग्रन्थ का श्रवण शान्तस्वरूप शिष्य ब्रह्म समन्वित होता है ॥ २५ ॥

आदि और अन्तशून्य सर्वव्यापी, निरञ्जनदेव हृदयस्थ स्वयं वक्ता कर्त्ता और कराने वाला हरि है ॥ २६ ॥

दत्तात्रेय कौन हैं ?--जिसका आरम्भ और अन्त नहीं है सभी का कारण होने से आदि इसका नहीं है, प्रलयकाल में जगत् जिसमें

त्वात्, प्रलये जगन्निधीयते यस्मिन्निति निधनश्चासौ देवः स्वप्रकाशः द्योतनत्वात्। सर्वव्यापी–सर्वं यत्किञ्चिद-विशेषं शुक्त्या शुक्तिरजतमिवेदं व्याप्तं येनाऽसौ। व्याप्यः स्थितोऽपि। संसारानुभवकारणमज्ञानाञ्जनं निर्गतं यस्मान्नानुभूतं कदाप्यनेनाऽसौ निरञ्जनः हृदयस्थः–परि-माणशून्योऽपि धीप्रेरकत्वेनाऽङ्गुष्ठमात्रावकाशे हृदि प्रती-यमानत्वात् हृदिस्थः। अशरीरोऽपि वक्ता विद्याऽरोपि-तवक्तृत्वात्। कर्तृत्वाच्च कर्त्ता। अयस्कान्तः लोहचालन-कृतिमानिव कारयिता यथा सत्कर्माणि सूर्यः। तथा हरिः स्मर्तृणां पापं हरतीत्यसौ हरिः, "हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृत" इति स्मृत्युक्तत्वात्। स्वयमकर्त्ताऽपि मायाशक्तिनिमित्तं कर्त्तृत्वं व्यावहारिकम्। परमार्थतः कर्त्ताऽकर्त्तेति वक्तुमशक्यः। जगत्कृतिः जडे प्रधानेऽ-सम्भवादीक्षणलिङ्गाच्च किञ्चिज्ज्ञत्वाज्जीवेप्यसम्भवात्।

लीन होता है, वह स्वप्रकाशस्वरूप देव है, द्योतनस्वरूप होने से, सभी अर्थात् अविशेष शुक्ति रजत के समान यह जिससे परिव्याप्त है, वह, व्याप्य स्थित होते हुए भी। संसारानुभव कारण अज्ञानरूपी अञ्जन जिससे निर्गत हो जाता है, जिसका कभी भी अनुभव नहीं किया है = वह निरञ्जन है। हृदय में स्थित, परिणामशून्य होने पर बुद्धि का प्रेरक होने से अङ्गुष्ठमात्र अवकाश में हृदय में प्रतीयमान होने से हृदयस्थ है। अशरीरी होते हुए भी वक्ता विद्यारोपितवक्तृत्व होने से। कर्तृत्व होने से कर्ता है। अयस्कान्त लोहे को चलाने में कृतिमान् के समान जैसे समीचीन कर्म को कराने वाला सूर्य है, वैसे ही हरि स्मरण करने वालों का पापहरण करता है अतः, हरि, है, हरि दुष्टों के चित्तों से भी पाप का हरण करता है––यह स्मृति में कहा गया है। स्वयं अकर्ता होने पर भी मायाशक्ति के द्वारा व्यव-हारिक कर्त्तृत्व है। पारमार्थिक दृष्टि से कर्त्ता और अकर्त्ता कुछ भी नहीं है। जड = प्रधान में असम्भव होने से ईक्षण हेतु से किञ्चित्

स्वकर्त्तृत्वाभिमाननिवारणार्था श्रुतिबोधितभावनेयं मौनेन भजनमित्यर्थः ॥ २६ ॥

इति श्रीदत्तात्रेयकारितश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकहरिपादानन्दशिष्यसन्तोषानन्दकृतकाथबोधस्य साजनीकृतव्याख्यारूपकाथबोधविवेकः समाप्तः ॥

ज्ञातृत्व जीव में भी असम्भव है, अपने कर्तृत्त्व के निवारण के लिए श्रुति से बोधित यह भावना ही मौनपूर्वक भजन है ॥ २६ ॥

काथबोध का हिन्दी समाप्त हुआ

फलश्रुतिः प्रयोगश्च

षड्‌विंशे शतवारं वै मूलं तुलसीसन्निधौ ।
जप्त्वा श्रुत्वा शुचिर्मौनी सर्वान्कामानवाप्नुयात् ॥ १ ॥

छब्बीस श्लोकों को पवित्र होकर तुलसी के समीप सौ वार जप कर या मौन पूर्वक सुनकर सभी कामनाओं को प्राप्त करता है ॥१॥

लक्ष्यत्रयं परिक्रम्य ग्रन्थं तुलसीसंयुतम् ।
पुण्याहवाचनं कृत्वा वन्ध्या पुत्रवती भवेत् ॥ २ ॥

तीन लाख वार तुलसी से संयुक्त ग्रन्थ की परिक्रमा कर पुण्याह-वाचन करने पर बन्ध्या भी पुत्रवती हो जाती है ॥ २ ॥

धर्मं कृत्वेति यथार्थं वागर्थानतिरञ्जयेत् ।
धर्मवृद्धिर्भवेत्तस्य नाऽत्र कार्या विचारणा ॥ ३ ॥

यथार्थ धर्म का परिपालन करने पर वाणी और अर्थ का अति-रञ्जन करे, धर्म की वृद्धि भी होती है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ॥ ३ ॥

सांवादित्याय स्वाहेति प्रतिश्लोकं जपेन्नरः ।
व्याधिमुक्तो भवेत्सद्यो जप्त्वा पूर्वविधानतः ॥ ४ ॥

मनुष्य "साम्वादित्याय स्वाहा" यह प्रत्येक श्लोक के साथ पूर्व में लिखित विधान के साथ जपकर सद्यः व्याधि से रहित हो जाता है ॥ ४ ॥

देहगेहेन चार्थांश्च जप्त्वाऽर्थान्प्राप्नुयात्सुधीः ।
भूतिकामश्च भूतिश्च ग्रन्थोपासनयाऽप्नुयात् ॥ ५ ॥

शरीर और गृह से अर्थों का अनुसन्धान करते हुए जप करने से विद्वान् धन को प्राप्त करता है वैभव की कामना करने वाला ग्रन्थ की उपासना से ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकता हैं ॥ ५ ॥

जपान्ते भोजयेद्विप्रान्सुवासांसि च शक्तितः ।
सन्तोषाऽन्तः सशिष्यस्य लक्ष्मीस्तु सा बुधस्य च ॥ ६ ॥

जप के बाद शक्तिपूर्वक विप्रों को भोजन कराये और वस्त्र दे शिष्य के साथ सन्तोष की प्राप्ति होती है और विद्वान् को लक्ष्मी की प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

स सूर्यः साजनी तस्य सर्वज्ञपरमात्मनः ।
दत्तात्रेयस्य वै नाम्ना कुर्याद्ब्राह्मणतर्पणम् ॥ ७ ॥

उस सर्वज्ञ परमात्मा दत्तात्रेय के नाम से ब्राह्मण तर्पण करे वही सूर्य है उसी की साजनी है ॥ ७ ॥

पूर्णे कामे यथा शक्त्या भक्त्या विप्रांश्च तर्पयेत् ।
द्रव्याऽभावे सेवया वा यतीन्विप्रांश्च तोषयेत् ॥ ८ ॥

कामना की पूर्णता होने पर यथाशक्ति भक्ति-पूर्वक विप्रों को तृप्त करे, द्रव्य के अभाव में सेवा से तृप्त करे या यतियों और विप्रों को भोजन कराये ॥ ८ ॥

तस्य स्वप्नो भवेद्रात्रौ प्रतिबन्धश्च वक्ष्यति ।
अन्यथा कार्यसिद्धिश्च वित्तशाठ्यं विवर्जयेत् ॥ ९ ॥

ऐसा करने पर उसको रात में स्वप्न होता है और कार्य में प्रतिबन्धक की सूचना देता है, वित्त के व्यय में कमी न करे, यदि स्वप्न नहीं होता है तो कार्य की सिद्धि होती है ॥ ९ ॥

क्वाऽहं मन्दमतिर्बाला क्वाऽसावीशात्मबोधकः।
तद्विवेककृतिः सा मे जात्यन्धस्यैव दिव्यदृक् ॥१०॥

कहाँ मैं मन्दमति बालक और कहाँ वह परिपूर्ण बोधक ईश, उसकी विवेक कृति जन्मान्ध के लिए दिव्य नेत्र है ॥ १० ॥

करुणेयं दयार्द्रेण दीनार्तिहरणेन वै।
कर्ष्णिना पूजितेनैव सांवादित्येन वै कृता ॥११॥

दयार्द्र, दीनों के कष्टों का हरण करने वाले कृष्ण सम्बन्धी के द्वारा साम्वादित्य के द्वारा पूजित होने के कारण ही यह करुणा की गई है ॥ ११ ॥

सन्तोषाऽनन्दरूपेण गुरुणा भगिनीमिव।
पालयाम्यहमेव त्वां माभैषीस्त्विवति वादना ॥१२॥

'मत डरो' यह कहते हुए सन्तोषानन्द स्वरूप गुरु से भगिनी के समान मैं ही तुम्हारा पालन करता हूँ ॥ १२ ॥

साजनी करुणापात्रं सज्जनास्त्वेवं वदन्तु।
तेषां कृपाकटाक्षेण पुण्या भवतु साजनी ॥१३॥

साजनी करुणा पात्र है—यह सज्जन लोग कहे, उसकी कृपा कटाक्ष से साजनी पुण्यवती हो ॥ १३ ॥

इति वासनया जातः काथबोधविवेककः।
क्षम्यन्तां सज्जना मह्यं शरण्या दीनवत्सलाः ॥१४॥

इस प्रकार की वासना से काथबोध के विवेक से सम्पन्न दीन-वत्सल सज्जन शरणागत मुझ पर कृपा करें ॥ १४ ॥

भारद्वाजकुलोत्पन्नसाजनीकृतिकेन हि।
काथबोधविवेकेन प्रीयतां चित्स्वरूप्यसौ ॥१५॥

भारद्वाज कुल में उत्पन्न साजनी के प्रणेता से काथबोध के ज्ञान से चित्स्वरूपी वह प्रसन्न हों ॥ १५ ॥

सृष्ट्वा पालयतीत्यस्मात्यतिर्ब्रह्मैव नान्यथा ।
स्त्रीणां धर्मश्च तद्ध्यानं तेन तुष्यतु भास्करः ॥१६॥

सृष्टि कर पालन कर्ता दत्तात्रेय यति ब्रह्मा है, अन्यथा नहीं, स्त्रियों का धर्म उनका ध्यान है, इससे भास्कर प्रसन्न हो ॥ १६ ॥

नवीन प्रकाशित दुर्लभ ग्रन्थ

१ श्रीमद्भगवद्गीता (गीता) मधुसूदन सरस्वती कृत संस्कृत टीका तथा सनातन देव कृत हिन्दी टीका (१९८३) १५०—००

२ नामालिङ्गानुशासनम् नाम अमरकोशः (कोश) । अमरसिंह कृत । भानुजी दीक्षित (रामाश्रय) कृत 'रामाश्रमी' (व्याख्यासुधा) संस्कृत टीका तथा हरगोविन्दशास्त्री कृत 'मणिप्रभा' (प्रकाश) हि० टीकादि :

राज संस्करण २५०—०० कार्ड बोर्ड संस्करण १५०—००

३ काव्यप्रदीपः । म० म० श्रीगोविन्दप्रणीतः । वैद्यनाथ कृत टीका । पं० दुर्गाप्रसाद तथा वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर सम्पादित- (१९८२) ५०—००

४ वेदान्तसूत्रवैदिकवृत्तिः । स्वामी हरिप्रसाद वैदिकमुनि विरचित । (१९८२) १५०—००

५ हरविजयम् । राजानक रत्नाकर विरचित । राजानक अलक कृत टीका सहित । पं० दुर्गाप्रसाद एवं काशिनाथ पाण्डुरङ्ग परब (१९८२) १००—००

६ चम्पूरामायणम् । राजाभोज कृत १-५ खण्ड तक, लक्ष्मणसूरि कृत छठवाँ खण्ड । रामचन्द्रबुधेन्द्र कृत टीका । वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर सम्पादित । (१९८२) ४०—००

७ भामिनीविलासः (काव्य) जगन्नाथ कृत । राधेश्याम मिश्र कृत 'प्रकाश' हिन्दी टीका । अन्योक्ति विलास-प्रस्ताविक विलास २५—००

संपूर्ण ७५—००

८ कामसूत्र (कामशास्त्र) । वात्स्यायन मुनि कृत । यशोधर कृत 'जयमङ्गला' संस्कृत । देवदत्त शास्त्री कृत हिन्दी टीकादि (१९८२) १५०—००

९ नारदसंहिता (ज्योतिष) । नारद महामुनि कृत । सान्वय, विमला हिन्दी व्याख्या. व्याख्याकार-राम जन्म मिश्र (१९८२) ६०—००

१० नाट्यशास्त्रम् (नाट्य) । भरतमुनि कृत । पं० बटुकनाथ शर्मा एवं बलदेव उपाध्याय संशोधित (१९८२) सम्पूर्ण १००—००

११ योगसूत्र । (योग) पतञ्जलि कृत । भोजराज कृत 'राजमार्तण्ड'-भावागणेश कृत 'प्रदीपिका'-नागोजि भट्ट कृत 'वृत्ति' रामानन्द यति कृत-'मणिप्रभा' अनन्त देव कृत 'चन्द्रिका' तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती कृत 'योगसुधाकर' छः टीका । विस्तृत हिन्दी भूमिका डा० महाप्रभुलाल गोस्वामी (१९८२) ५०—००

प्राप्तिस्थान—चौखम्बा संस्कृत संस्थान, पो. बा. ११३९ वाराणसी-१